Chapter. 2

अध्याय : 2

साठोत्तरी व्यंग्यात्मक उपन्यासों का परिचय

अध्याय : 2

साठोत्तरी व्यंग्यात्मक उपन्यासों का परिचय

जिस प्रकार स्त्रोतस्विनी अपनी प्रकृति व परिस्थिति के अनुरूप अपने प्रवाह को मोड़कर, उसे एक विशिष्ट और आकार प्रदान करती है; उसी प्रकार साहित्य-जगत के कृती-कवि या लेखककी अपनी वैयक्तिक एवं जागतिक अनुभूतियों की स्त्रोतस्विनी भी अपनी प्रकृति एवं माँग के अनुरूप एक विशिष्ट आकार ग्रहण कर लेती है । पुनरूत्थानोत्तर औद्योगिक क्रांति से विकसित पूंजीवादी व्यवस्थाने जीवन की जटिलता को जब अनेक गुना बढ़ा दिया, तब मानव-जीवन तथा समाज-जीवन की जटिलता को उसके यथार्थ एवं समग्र रूप में सम्प्रेषित करने के लिए उपन्यास एक उचित संवाहक एवं सशक्त लोकप्रिय विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ । विगत कुछ दशकों से वह निरंतर विकसित एवं संवर्द्धित हो रहा है ।

उपन्यास इस नये युग की नयी वास्तविकता एवं उसके अंतर्विरोधों को रूपायित करने में अन्य काव्यरूपों की तुलना में विशेष सफल रहा है । उसकी रचनाधर्मिता में वास्तवदर्शी जीवनानुभवों का माहात्म्य उसे जीवन के अधिक सन्निकट स्थापित करता है । "उपन्यास" शब्द की व्युत्पत्ति ही है -- उप + न्यास । "उप अर्थात् समीप तथा न्यास = थाती, "जिसका अर्थ हुआ (मनुष्य के) निकट रखी हुई वस्तु, अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्ब

है, इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही गयी है । आधुनिक युग में जिस साहित्यविशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृतिको स्पष्ट करने में यह शब्द सर्वथा समर्थ है ।"[1]

डा॰ नगेन्द्र द्वारा संपादित भारतीय साहित्य-कोश में उपन्यास के सम्बन्ध में कहा गया है : "बादमें औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप निरंतर वर्द्धमान जीवन की जटिलताओं तथा मानसिक और भौतिक स्तरों पर घटित होने वाले व्यष्टि और समष्टि के जीवन-संघर्षों के चित्रण से वहाँ के {पश्चिम के} उपन्यासमें यथार्थ का रंग गहरा होने लगा ।"[2] इसके उपरांत उपन्यास की लगभग तमाम परिभाषाओं से उसका जो एक-मात्र व्यावर्तक लक्षण स्थिर होता है, वह है उसकी यथार्थधर्मिता ।

उपन्यास और व्यंग्य

यह निर्दिष्ट हो चुका है कि उपन्यास का सम्बन्ध यथार्थ से है । दूसरे उसका जन्म ही औद्योगिक क्रांति से व्युत्पन्न जीवन की जटिलताओं के बीच हुआ है, जिसमें अनेक विसंगतियाँ है । विसंगतियाँ व्यंग्य को जन्म देती है । प्रेमचन्द-पूर्वयुग, प्रेमचन्द युग तथा स्वाधीनता-पूर्व प्रेचन्द्रोत्तर युग में अंग्रेजी सत्ता, उसके अत्याचार, शोषण, अन्याय, द्विमुखी पद्धति आदि के कारण भारतीय समाज में अनेक विसंगतियाँ थीं । स्वाधीनता के उपरांत एक आशा जगी, किन्तु बहुत शीघ्र ही वास्तविकताएँ अपने भयंकर रूप में दृष्टिगोचर होने लगी । मूल्यहीन राजनीतिने समाज-जीवन के सारे मूल्यों का कचूमर निकाल दिया । विसंगतियाँ और बढ़ी और उपन्यास चूँकि जीवन के अधिक सन्निकट है, फलतः यह विसंगतियाँ उसमें ही अधिक

मुखरित हुई । व्यंग्यकार के भीतर कहीं एक आदर्शवादी, एक मूल्यवादी आलोचक बैठा हुआ होता है, अत: वह हमेशा, स्थितियाँ जो है और जो होनी चाहिए की चिंता में व्यस्त रहता है । वह समाजकी द्विमुखता का पर्दाफाश करता है । आर्थर पोलार्ड महोदय ने "व्यंग्य" के सम्बन्ध में लिखा है :

"Satire is always acutely conscious of the difference between what things are and what they ought to be. xx He is than able to exploit more fully the differences between appearance and reality and especially to expose hypocrisy. The hypocrite's skin is notoriously more tender than that of the openly vicious. The one has nothing to concel, the other everything. His whole reputation is at stake. Openly he subscribes to the ideals that secretly he ignores or defies. Such a man, we may teel, deserves exposure. To this extent the satirist is porforming a socially and morally useful task of universal validity."[3]

वर्तमान सन्दर्भ में राजनीतिक, व्यावसायिक, पूंजीपति, समाज एवं धर्म के ठेकेदारों की इस hipocrisy को उपन्यासकार expose करता है और ठीक यही पर व्यंग्य की सृष्टि होती है । चूँकि उपन्यासका सम्बन्ध यथार्थ से है, और यथार्थ का व्यंग्य से है, अत: प्रारंभ से उपन्यासों में व्यंग्य की एक परम्परा मिलती है ।

हिन्दी उपन्यास में व्यंग्य की परंपरा : (सन् 1960 तक)

साठोत्तरी उपन्यास तो प्रस्तुत प्रबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य है । अत: यहाँ बहुत संक्षिप में सन् 1960 तक के उपन्यासों में व्यंग्य की परंपरा को निर्दिष्ट किया गया है । प्रेमचन्द्र-पूर्व उपन्यासकारों में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी, बालकृष्ण भट्ट, मेहता लज्जाराम शर्मा, मन्नन द्विवेदी प्रभृति में व्यंग्य की यह प्रवृत्ति मिलती है । सामाजिक पुनर्जागरण एवं समाज-सुधार की प्रवृत्ति के कारण व्यंग्य के आविर्भाव में आर्यसमाजी आन्दोलन का महत्वपूर्ण योगदान रहा । रमाकान्त त्रिपाठी के शब्दों में -- "कहना न होगा कि आर्य-सामाजिक लेखों तथा कविताओं में आदि से अन्त तक गद्यमयता और व्यंग की मात्रा खूब रहती थी । इस स्थल पर कह सकते है कि हिन्दी में व्यंग साहित्य को उदीप्त करनेका श्रेय आर्य समाज को ही है । आर्य समाज के प्रचारकों को सनातनधर्मियों तथा अन्य मतावलम्बियों से वाद-विवाद करते समय बड़ी ज़ोरदार मखौलेपन से भरपूर तथा व्यंग्ययुक्त भाषा का प्रयोग करना पड़ता था ।"[4] अत: पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी की गद्यशैली में व्यंग्य का पुट बहुतायत से मिलता है । भारतेन्दु युग के सभी लेखकों में हास्यव्यंग्य की मात्रा थोड़े - बहुत परिमाण में मिलता है । डॉ रामविलास शर्मा ने इस युग की व्यंग्य-रचनाओं के कारण को स्पष्ट करते हुए कहा -- "या तो झूठ बोलकर खुशामद की जाय या सच कहकर प्रेस एक्ट की चपेट में अदालत की या हवालात की हवा खाई जाय । इसलिए सरकार की आलोचना के लिए व्यंग और हास्य का अधिक सहारा लिया जाता था ।"[5]

बालकृष्ण भट्ट के "नूतन ब्रह्मचारी" और "सौ अजान एक सुजान" में विषय-वस्तु की दृष्टि से खास नवीनता नहीं है किन्तु उनकी व्यंग्य शैली उल्लेखनीय है । डॉ॰ महेन्द्र चतुर्वेदी ने इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है -- "वे आँखे खोलकर समाज में विचरते हैं । कहीं-कहीं उनके पात्र जीवन्त होकर हमारे सामने आते हैं । व्यंग्य का प्रयोग करने में वे सच्चे अर्थ में प्रेमचन्द के अग्रगामी हैं । x x x समाज के धर्माधिकारी और पूंजीपति शोषकों के प्रति प्रेमचन्द के व्यंग्य का तीखा दंश इसी परम्परा का विकसित रूप है ।"[6] मेहता लज्जाराम शर्मा मुख्यत: अखबारनवीस थे, अत: उनकी शैली में व्यंग्य का पुट मिलता है । मन्नन द्विवेदी इस प्रारंभिक-काल के एक सशक्त उपन्यासकार हैं । उनके उपन्यास "रामलाल" में समाज के सभी वर्गों का, शहरी एवं ग्रामीण -- पुलिस, वकील, पटवारी, पोस्टमेन, भगत, साहूकार -- आदि सभी का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है जो सहज ही उन्हें प्रेमचन्द - स्कूल से जोड़ता है ।

प्रेमचन्द जनजीवन से गहराई के साथ जुड़े हुए उपन्यासकार हैं । उनके सभी उपन्यासों में उन्होंने किसी-न-किसी प्रकार के शोषण का पर्दाफाश किया है । अत: व्यंग्यात्मकता उनकी औपन्यासिक कला का एक गुण है । सेवासदन उपन्यासका प्रारंभ ही एक व्यंग्यात्मक वाक्य से होता है -- "पश्चाताप के कड़ुवे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं । दरोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे ।"[7] दहेज-प्रथा पर भी ऐसे ही चिकोटी काटी है -- "एक सज्जन ने कहा -- "महाशय, मैं स्वयं इस कुप्रथा का जानीदुश्मन हूँ । लेकिन करूँ क्या । अभी पिछले साल लड़की का विवाह किया । दो हजार रूपये केवल दहेज में देने पड़े । दो हजार और खाने-पीने में खर्चने पड़े ।

आप ही कहिए, यह कमी कैसे पूरी हो । दूसरे महाशय इनसे अधिक नीतिकुशल थे । बोले -- "दरोगाजी, मैंने लड़के को पाला है । सहस्त्रों रूपये उसकी पढ़ाई में खर्च किए हैं । आपकी लड़की को इससे उतना ही लाभ होगा जितना मेरे लड़के को । तो आप ही न्याय दीजिए कि यह सारा भार मैं अकेला कैसे उठा सकता हूँ ।"[8] भारतीयों की गुलाम मनोदशा पर भी उपन्यास के एक पात्र द्वारा व्यंग्य करवाया है -- "आपकी अंग्रेजी शिक्षाने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान किसी विषय के गुण-दोष न प्रकट करे, तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं । आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय है । बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेट्स्की और मेक्समूलर ने उनका आदर किया है । आप में अपनी बुद्धि से काम लेनेकी शक्ति का लोप हो गया है । अभी तक आप तांत्रिक विद्या की बात भी न पूछते थे । अब जो युरोपीय विद्वानों ने उसका रहस्य खोलना शुरू किया । तो आपको अब तंत्रो में गुण दिखाई देते है । यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गईगुजरी है । आप उपनिबदों को अंग्रेजी में पढ़ते है, गीता को जर्मन में । अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृशना और इस प्रकार अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं ।"[9] अपने यथार्थवादी रूपबन्ध के कारण "गोदान" तो यहाँ-वहाँ अनेक व्यंग्य-बाणों से भरा पड़ा है । गोदान के जमींदार रायसाहब आंदोलन में जेल भी हो आये हैं और दूसरी ओर अंग्रेजों के कृपाकांक्षी भी हैं । किसानों को एक नये अंदाज से चूस रहे हैं कि उन्हें पता भी न चले । प्रोफेसर मेहता उनका पर्दाफाश करते

हुए ठीक ही कहता है -- "मानता हूँ, आपका आपके असामियों के साथ बहुत अच्छा वर्ताव है, मगर प्रश्न यह है कि उसमें स्वार्थ है या नहीं, इसका एक कारण क्या यह नहीं हो सकता कि मद्धिम आँच में भोजन स्वादिष्ट पकता है । गुड़ से मारनेवाला ज़हर से मारनेवाली की अपेक्षा कहीं सफल हो सकता है ।"[10] रायसाहबका दूसरा आलोचक गोबर भी है, रायसाहब के दान-धर्म के सम्बन्ध में वह कहता है -- "यह पाप का धन पचे कैसे, इसलिए दान-धर्म करना पड़ता है .....एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भक्ति भूल जाए ।"[11]

प्रेमचन्द्र-स्कूल और युगके अन्य उपन्यासकारों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, जिनमें पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र", ऋषभचरण जैन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि मुख्य हैं ।

पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" को व्यंग्य और गद्य-शैली पर सहज अधिकार प्राप्त था । "घण्टा" (1916) उनका प्रथम उपन्यास है जिसमें उपन्यास का नायक एक "घण्टा" है जिसके द्वारा अनेक मनुष्यों के कुकर्मों से पर्दा उठाया गया है । "दिल्ली का दलाल", "चन्द हसीनों के खतूत", "बुधुआ की बेटी" तथा "फागुन के दिन चार" उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं जिनमें अंतिम में बम्बई के फिल्म-जगत की अनेक विसंगतियों को उन्होंने दिखाया है ।

ऋषभचरण जैनने अपने यथातथ्य नग्नचित्रण द्वारा तथाकथित उच्चवर्ग की गंदगी को चित्रित किया है, जिनमें सैक्स सम्बन्धी समस्याओं को विशेषतः लिया गया है । "मास्टर साहिब", "दिल्ली का व्यभिचार", "दिल्ली का कलंक", "वेश्यापुत्र", "दुराचार के अड्डे" प्रभृति उपन्यास इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं ।

जयशंकरप्रसाद मूलत: कवि और नाटककार हैं, किन्तु प्रेमचन्दजी के शब्दों में "गड़े मुर्दे उखाडने" वाले प्रसादजीने "कंकाल" उपन्यासमें अभिजात-वर्ग की बखिया उधेड़ दी है । प्रेमचन्दजीने इसे पढ़ा तो फड़क उठे और मारे खुशी से लिखा -- "यह प्रसादजी का पहला ही उपन्यास हैं पर आज हिन्दी में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं जिन्हें इसके सामने रक्खे जा सकते हैं ।"[12] इस उपन्यास में उन्होंने अभिजात-वर्ग की वर्णसंकरीय सृष्टि का मखौल उड़ाते हुए जाति एवं वर्ण के अहंकार को मिथ्या घोषित किया है ।

प्रेमचन्द्रोत्तर युग में सामाजिक, समाजवादी, आंचलिक, राजनीतिक प्रभृति उपन्यासों में यह व्यंग्य की प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है । भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास "टेढ़े - मेढे रास्ते", "भूले-बिसरे चित्र", "आखिरी दाँव", अमृतलाल नागर के "महाकाल", "सेठ बाकैमल", "बूंद और समुद्र", उपेन्द्रनाथ "अश्क" के "गर्म राख", "पत्थर - अल-पत्थर", "गिरती दिवारें"; हिमांशु श्रीवास्तव कृत "लोहे के पंख;" आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत "गोली"; सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" "कृत चोटी की पकड़", "कुल्ली भाट", "बिल्लेसुर बकरिहा"; यशपाल कृत "दादा कामरेड", "पार्टी कामरेड", "मनुष्य के रूप", "झूठा सच", नागार्जुन कृत "बलचनमा", "बाबा बटेसरनाथ", "कुंभीपाक"; रांगेय राघव कृत "घरौंदे", "विषादमठ", "हजूर", "सीधा सादा रास्ता"; लक्ष्मीकान्त वर्मा कृत "खाली कुर्सी की आत्मा"; धर्मवीर भारती कृत "सूरज का सातवाँ घोडा"; फणीश्वरनाथ रेणु कृत "मैला आँचल", "परती परिकथा"; महापंडित राहुल सांकृत्यायन

कृत "सिंह सेनापति", "जय यौधेय" प्रभृति उपन्यासों में व्यंग्यात्मकता का पुट बहुतायत से मिलता है । स्थान-संकोच की दृष्टि से यहाँ केवल उल्लेख-भर हो सका है ।

साठोत्तरी व्यंग्यात्मक उपन्यासों का परिचय :

प्रस्तुत अध्ययन में सन् 1960 से सन् 1980-81 तक के साठोत्तरी उपन्यासों को लिया गया है । आधुनिकता के संदर्भ में इधर "साठोत्तरी साहित्य" की सविशेष चर्चा हो रही है । साठोत्तरी शब्द उसीसे जुड़ा हुआ है । पूर्व - विवेचन में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि इस "साठोत्तरी" शब्द में काल-विषयक विभावना के अतिरिक्त यथार्थधर्मिता, प्रयोगशीलता, कलागत सूक्ष्मता एवं निरपेक्षता, आधुनिक भावबोध, व्यंग्यात्मकता, नवीन भाव-भाषाभिव्यंजना प्रभृति तत्वों को विशेषत: रेखांकित किया जाना चाहिए । अत: यहाँ केवल उक्त विशेषताओं से संपन्न उपन्यासों को ही लिया गया है । दूसरे प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य साठोत्तरी उपन्यासों में -- व्यंग्य के स्वरूप को निर्धारित करना है । अत: इसमें साठोत्तरी उपन्यासों को सामान्यत: और साठोत्तरी उपन्यासों में आये व्यंग्योन्मुखी उपन्यासों को विशेषत: चर्चा का विषय बनाया गया है । भौतिकवादी वस्तुवादिता तथा राजनीति की काली-अंधी छाया ने मानवीय सम्बन्धों के रेशे-रेशे बिखेरकर तमाम जीवन-मूल्यों का छेद उड़ा दिया है । इससे उत्पन्न सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक प्रभृति विसंगतियों के कारण व्यंग्य-दृष्टि रचना-प्रक्रिया पर हावी हो रही है । उपन्यास में व्यंग्य तो उसके प्रारंभिक काल से मिल रहा है, जिसका विवेचन

पूर्ववर्ती पृष्ठों में हो चुका है; किन्तु इधर कुछेक ऐसे उपन्यासों की सृष्टि हुई है, जिसमें यह व्यंग्य-दृष्टि ही प्रधान रही है ।

व र्गी क र ण :

प्रस्तुत अध्याय में व्यंग्यात्मकता की दृष्टि से उपन्यास की विभिन्न कोटियों पर विचार किया गया है । अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें तीन भागों में विभाजित किया है । प्रथम कोटि में उन उपन्यासों का चयन हुआ है जो आद्यान्त व्यंग्योन्मुखी हैं, जिन्हें हम व्यंग्यात्मक उपन्यास भी कह सकते हैं । "राग दरबारी", "कथा-सूर्य की नयी यात्रा", "एक चूहे की मौत", "कुरु - कुरु स्वाहा", "नेताजी कहिन", "सबहि नचावत राम गोसाई", "दिल एक सादा कागज़", "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई", "रानी नागफनी की कहानी", "महाभोज", "जंगलतंत्रम", "मुरदाघर", "धरती धन न अपना", "इमरतिया", आदि ऐसे ही उपन्यास हैं । दूसरी कोटि में उन उपन्यासों को रखा है जिनमें व्यंग्यात्मकता एक मुख्य "टोन" के रूप में मिलती है । "आधा गाँव", "अलग अलग वैतरणी", "जुलूस", "काँचघर", "तमस", "डाक बंगला", "कृष्णकली", "रेखा", "सीमाएँ टूटती हैं", "मेरी तेरी उसकी बात", "नंगा शहर", "पत्तों की बिरादरी", "टूटते-बिखरते लोग", "हड़ताल हरिकथा", "बे घर", "कुछ जिन्दगियाँ बे मतलब", "अपना मोर्चा", "गोबर गणेश", "टोपी शुक्ला", "अठारह सूरज के पौधे", "एक पंखुड़ी की तेज़ धार", "बैसाखियों वाली इमारतें", "शहीद और शोहदे", "शहर में घूमता आईना", "उग्र तारा", प्रभृति उपन्यास इस कोटि में आते हैं । साठोत्तरी उपन्यासों की एक तीसरी कोटि वह है जिसमें व्यंग्य अपने

परम्परागत सामान्य रूप में अर्थात छुटपुट मात्रा में आया है । अब क्रमश: इन तीनों कोटियों के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

आद्यन्त व्यंग्योन्मुखी उपन्यास

राग दरबारी :

समसामयिक लेखन में "राग दरबारी" व्यंग्यात्मक उपन्यास का प्रतिमान बन गया है । स्वातंत्र्योत्तरकाल में हमारे देश में एक अनोखा चक्र चला । स्वाधीनता के पहले की सारी बातें उलट गयीं । रेणु के "मैला आंचल" के उतरार्द्ध में बावनदास के द्वारा इस स्थिति का कुछ संकेत मिल गया था । शोषक, भ्रष्ट, मूल्यहीन राजनीतिने देशसेवा का मुखौटा धारण कर लिया । वस्तुत: सारे मूल्य आज़ादी के साथ धराशायी हो गये । यह पंक्तियाँ स्मृति में कौंधकर दर्द को गहराती है :-

लड़ते लड़ते मर गया, सैंतालीस में देश ।
गीध और गीदड़ खा रहे, बदल कबिरा भेश ।।[13]

"राग दरबारी" इस सामूहिक भोज की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति है । शिवपालगंज ही भारत है । भारतीय जीवन की तमाम विद्रूपताएँ - विसंगतियाँ - विकृतियाँ उसके "गंजहेपन" में उतर आयी है । "यन्न भारते तन्न भारते" वाले न्याय से जो शिवपाल गंज में हो रहा है, वह संपूर्ण भारतवर्ष में हो रहा है । वैद्यजी भ्रष्ट राजनीतिक नेता के प्रतीक हैं । व्यक्ति-नेता कितना shrewd हो सकता है उसका एक आदर्श ॥१॥ प्रतिरूप हमें वैद्यजीके रूपमें मिलता है । आर्थर पोलार्ड महोदयने व्यंग्यकार

का यही कार्य माना है -- "He is then able to exploit more fully the differneces between appearance and reality and especially to expose hypocrisy. xxx his whole reputation is at stake openly he subscribes to the ideals that secretly he ignores or defies" "राग दरबारी" के वैद्यजी ऐसे ही नम्बरी hypocrite है । उनके वाणी-व्यवहार में जमीन-आसमान का अंतर है । उनकी बैठक में खुशामदी "गंजहो" का एक दरबार लगा रहता है । कब कहाँ, किसका, कैसे उपयोग करना है, वैद्यजी खूब जानते हैं ।

गाँवों में पनप रहे इस हरामीपन का चित्रण "अलग अलग वैतरणी", "जल टूटता हुआ", "आधा गाँव", "अँधेरे के विरुद्ध" प्रभृति उपन्यासों में भी हुआ है, किन्तु यहाँ लेखक का दृष्टिकोण पूर्णतया व्यंग्यात्मक है । "युगीन सत्य को अनावृत करने के लिए भाषा की जो असाधारण क्षमता और शिल्पगत साहसिकता अपेक्षित थी वह सब श्रीलाल शुक्ल में विद्यमान रही है , अत: कथा-साहित्य के माध्यम से सार्वदेशिक जीवन-धारा की सशक्त पकड़ का एक महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक कार्य संभव हो गया ।"[14] स्वातंत्र्योत्तर व्यंग्योन्मुखी परिवेश की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए ऐसे ही किसी रूप की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति अनायास ही "राग दरबारी" के रूप में हो गई । अपने युग की समग्र यथार्थता और जटिलता को रूपायित करने के लिए प्रत्येक सर्जक किसी सशक्त रूप या माध्यम की खोज में होता है, क्योंकि पूर्व-स्थापित सारे रूप उसकी सफलता में बाधक हो सकते हैं । इयान वाट महोदयने इसी बात की ओर इशारा करते हुए कहा है -- "Since the novelist's primary task is to

convey the impression of fidelity of human experience, attention to any pre-established formal conventions can only endanger his success."[15] "राग दरबारी" की अत्याधिक ख्याति का एक कारण इस "नये मार्ग का अन्वेषण" भी है । ऐसे नये काव्य-रूप का प्रस्फुटन युगीन आवश्यकताओं के रूप में प्रतिभाशाली लेखकों के माध्यम से कभी-कभी हो जाता है, और तब साहित्य को कोई अनुठी कृति "गोदान", "मैला" आँचल", "राग दरबारी", "आधा गाँव" के रूप में मिल जाती है, किन्तु उसका पुनराख्यान असंभव है । स्वयं वे लेखक भी ऐसी कृतियों को दुबारा नहीं दे सकते । "बाणभट्ट की आत्मकथा" जब प्रकाशित हुआ तब इस क्षेत्र में वह एक मेवो द्वितीयम्[16] प्रतीत होता था । व्यंग्य के क्षेत्र में "राग दरबारी" भी "एकमेवोद्वितीयम्" का परिचय दे रहा है ।

लेखक के उपरिनिर्दिष्ट नये व्यंग्योन्मुखी दष्टिकोण के कारण इस उपन्यास पर "संवेदनहीनता", "ग्रामीण संस्कृति का उपहास", "हास्य-व्यंग्य की अति", "व्यंग्य-दृष्टि या व्यंग्य-लीला (?)" जैसे आरोप-प्रत्यारोप लगाये गये ।[17] डॉ॰ पारूकांत देसाई ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है : "वस्तुत: "राग दरबारी" में जीवन का एक ही पक्ष मिलता है, जो भौंडा और कुरूप है । उसके दूसरे पक्ष को नितान्त उपेक्षित रहने दिया गया है । x x x निश्चय ही "राग दरबारी" में लेखक का दृष्टिकोण मखौल उड़ाने की ओर अधिक रहा है ।"[18] किन्तु ऐसा व्यंग्योन्मुखी दृष्टिकोण के कारण हुआ है । नये form के आग्रह के कारण हुआ है । यदि ऐसा न होता तो हिन्दी उपन्यास को एक और "मैला आँचल" एक

और "अलग अलग वैतरणी" मिलता; पर तब "राग दरबारी" न मिलता ।

उपन्यास की कोई निश्चित कथा नहीं है । इतिहास में "रिसर्च" करनेवाला रंगनाथ कुछेक महीनों के लिए "शिवपालगंज" आता है । उपन्यास के अंत में उसके "शिवपालगंज" छोड़ने का संकेत मिलता है । यहाँ उसका ग्रामीण जीवन की नग्न वास्तविकताओं, विसंगतियों, विद्रूपताओं से साक्षात्कार होता है । अनेक घटनाएँ और पात्र हैं । किन्तु यह लेखक की कुशलता का परिचायक है कि पाठक कहीं भी ऊबता नहीं है । 424 पृष्ठ के इस बृहद उपन्यास का प्रत्येक वाक्य व्यंग्य एवं वचन-वक्रता को लिए हुए है । इस सन्दर्भ में डो॰ रामदरश मिश्र का यह मत उल्लेखनीय है -- "इतनी सारी जानी-पहचानी गति-विधियाँ, प्रसंग घटनाएँ, रोजमर्रा की ज़िन्दगी के इतने व्यापार बिखरकर एक नीरसता, ऊब और वितृष्णा की ही सृष्टि करते लेकिन ऐसा नही हुआ है । लेखक की कुशल कथा-विन्यासशक्ति ने सारी बातों को केन्द्रवर्ती स्थिति के चारों ओर इस तरह बुन दिया है कि मामूली लगनेवाली बात भी उबाने की जगह रमाने लगती है । यह लेखक की बहुत बड़ी सफलता है कि उसने मामूलियत को, सपाटता को मामूली या सपाटसी लगनेवाली शैली में कहकर उसमें एक नया रस भर दिया है । लेखक चाहे मेले का चित्र खींच रहा हो, चाहे किसी यात्रा का, चाहे चुनाव का, चाहे प्रेम का, चाहे चौपाल का, चाहे लोगों के निबटने का, बहुत ही यथार्थवादी दष्टिकोण अपनाता है ।"[19]

ग्राम-भित्तीय वस्तु को लेकर कई उपन्यास लिखे गए, पर ऐसी व्यंग्यात्मक लट्ठमार भाषा में यह पहला उपन्यास है । यहाँ तक कि लेखक

ने जिन अवान्तर कथाओं को लिया है -- जिनमें कौडिल्ला न्याय, चुनाव तरीकों के तीन नमूने, दूरबीनसिंह डकैत- वे भी उसके इस व्यंग्यात्मक शिल्प को पुष्ट करते हैं । व्यंग्यातिरेक से कहीं-कहीं शैली में absurdity का भास होने लगता है, यथा -- "सभी मशीनें बिगड़ी पड़ी हैं । सब जगह कोई-न-कोई गड़बड़ी है । जान - पहचान के सभी लोग चोट्टे हैं । सड़कों पर सिर्फ कुत्ते, बिल्लियाँ और सुअर घूमते हैं । हवा सिर्फ धूल उड़ाने के लिए चलती है । आसमान का कोई रंग नहीं, उसका नीलापन फ़रेब है । बेवकूफ लोग बेवकूफ बनाने के लिए बेवकूफों की मदद से बेवकूफों के खिलाफ बेवकूफ़ी करते हैं । घबराने की, जल्दबाजी में आत्म-हत्या करने की ज़रूरत नहीं । बेईमान और बेईमानी सब ओर से सुरक्षित है । आज का दिन अड़तालीस घण्टे का है ।"[20]

कथा-सूर्य की नयी यात्रा :

"लोहे के पंख" तथा "नदी फिर बह चली" जैसे यथार्थवादी उपन्यासों के लेखक जी हिमांशु श्रीवास्तव के प्रस्तुत उपन्यास में व्यंग्य के लिए फैण्टसी के माध्यम का सशक्त प्रयोग हुआ है । वास्तव में "फंतासी" या "फैण्टसी" व्यंग्य को सम्प्रेषित करने का एक अत्यन्त सशक्त साधन है, "जिसमें व्यंग्यकार समुचित स्वतंत्रता बरतते हुए, संयत व्यवहार करते हुए व्यंग्य को उभारे तो वह स्थितियों और देशकाल के विद्रूप को अंकित करने में एक कलाकार की भूमिका को बेहतरीन ढंग से निभा सकता है । xxx यह आकस्मिक नहीं है कि व्यंग्य की अधिकांश सशक्त रचनाओं में फंतासी के माध्यम को अपनाया गया है ।"[21]

उपन्यास की कथा-वस्तु इस प्रकार है : हिन्दी साहित्य के किसी नवोदित लेखक की मृत्यु होती है । उसकी आत्मा स्वर्ग में कथा-सूर्य प्रेमचन्द से मिलती है । साहित्यिक होने के नाते दोनों आत्माओं में सहज स्नेह हो जाता है । साहित्य एवं साहित्यिकों के प्रति प्रेमचन्द का प्रेम सर्वविदित है । स्वाभाविक रूप से दोनों आत्माओं में तत्कालीन हिन्दी - साहित्य की गतिविधियों पर चर्चा चलती है । नवोदित लेखक - आत्मा की बातों से प्रभावित हो, प्रेमचन्द की आत्मा भारत के कुछ स्थानों का भ्रमण करती है । दिल्ली, वाराणसी, इलाहाबाद, लखनऊ, इन्दौर, बम्बई, आदि स्थानों का विचरण करती है । विश्वविद्यालयों, उनके हिन्दी विभागों, प्रकाशकों आदि के कार्यालयों तथा कुछ मूर्धन्य साहित्यकारों के भवनों पर वह आत्मा मँडराती है ।प्रेमचन्दने कुछ दिनों के लिए मोहमयी मायानगरी बम्बई में फिल्मों के लिए काम किया था । अत: प्रेमचन्द की आत्मा वहाँ भी जाती है और देखती है कि "नेताओं के नाम पर दर्जी की दूकानें, होटल, लाण्ड्री आदिके नाम रखे गए हैं ।"[22]

कथा-सूर्य की इस नयी यात्रा के माध्यम से लेखक ने हमारे साहित्यिक - सांस्कृतिक जीवन की विसंगतियों के बखियों को उधेड़ा है । हिन्दी साहित्य, तत्सम्बन्धी गुटबन्दियाँ, विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में चलनेवाली राजनीति, हिन्दी के कई अन्य संस्थान, उन संस्थानों में हिन्दी के नाम पर चल रही धाँधली, हिन्दी के तथाकथित मूर्धन्य विद्वान, उनके महन्ती दरबार, उनके गुर्गे, प्रकाशकों और महन्तों की आपसी साँठ-गाँठ इत्यादि पर अनेक व्यंग्य-बाण छोड़े गए हैं । व्यंग्य के

लिए यह बड़ा ही अनुकूल क्षेत्र है । इस पर अभी बहुत कम लिखा गया है । "राग दरबारी", "कुरु कुरु स्वाहा", "सबहि नचावत राम गोसाईं", "दिल एक सादा कागज़" प्रभृति उपन्यासों में इस क्षेत्र पर यथास्थान व्यंग्य किए गए हैं, मेरे निर्देशक डॉ॰ पारूकांत देसाई का व्यंग्य-उपन्यास "इतिश्री रेवा खण्डे" इसी विषय पर है, किन्तु अभी अप्रकाशित है ।[23]

बम्बई की फिल्मी दुनिया में हिन्दी के लेखक की दयनीय स्थिति; हीरो, हीरोइन या हीरोइन के किसी चमचे के कहने पर कहानी तथा संवादों पर होनेवाले बलात्कार; लेखक की मुंशी जैसी स्थिति; गीत-लेखकों की भोंडी हरकतें; रेडिओ स्टेशन या आकाशवाणी के निर्देशकों के बंगलों पर भेंट - सौगात आदि का चढ़ाना; बंकिम के उपन्यासों के पुराने अनुवादों पर से नये अनुवाद लिखने लेखक महोदय आदि अनेक स्थितियों और पात्रों पर व्यंग्य कसे गए हैं । उपन्यास के प्रारंभ में ही हिन्दी-आलोचना पर करारा व्यंग्य किया गया है । नवोदित लेखक की आत्मा प्रेमचन्दजी की आत्मा से कहती है : "अ हा हा, यही तो आप बुनियादी गलती कर रहे हैं । आलोचना करने के लिए शब्द-विशेष का उपयोग किया जाता है । जैसे - आयाम, प्रक्रिया, सन्तुलन, प्रतिमान, केन्द्र - बिन्दु, परिवेश, साहित्यिक आस्फालन, बिम्ब, अणुबिम्ब, युग बोध, भाव-संघात, भावधारा, परिपार्श्व, परिप्रेक्ष्य, नवचेतना, सामीप्य, आलम्बन, प्रतिष्ठापन,उदात्तीकरण, लोकसंवहन, व्यंग्य-व्यूह, अपरम्परा, उत्स, उद्भव और हो सके तो इंगलिश, लेटिन, फ्रेन्च भाषाओं के कुछ ऐसे शब्द जो शीघ्रता से शब्द कोशों में न मिले ।"[24] व्यंग्य की सृष्टि के लिए लेखक ने "द्विविधा", "बेसुरेसुरभारती",

निष्पक्ष भारतीय हिन्दी शोध कमण्डल साहित्य का इन्सपेक्टर (आलोचक) आदि शब्दों का प्रयोग किया है। संक्षेप में फंतासी द्वारा साम्प्रतिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों या कुप्रवृत्तियों पर किया गया एक सशक्त व्यंग्य है -- "कथा"सूर्य की नयी यात्रा"।

एक चूहे की मौत :

"एक चूहे की मौत" हिन्दी उपन्यास की कुछ गिनी-चुनी कृतियों में से है, जिन्होंने उसे एक नयी दिशा प्रदान की है। फण्टासी की शैली में लिखा गया यह उपन्यास आज के मध्यवर्गीय यथार्थ को उसकी समस्त विसंगतियों और विषमताओं के साथ रूपायित करता है। सरकारी तंत्र, उसकी तमाम जटिलताओं, उसकी भयानक तर्कहीनता, उसकी दमघोंटू मोनोटोनी का यहाँ प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है।

कृष्णा सोबती के "यारों के यार" में यह दफ्तरी परिवेश कुछ बोल्ड कही जानेवाली भाषा-शैली में उसके परिवेशगत भ्रष्टाचार को सामने लाता है वहाँ बदीउज्जमाँ कृत प्रस्तुत उपन्यास व्यक्ति के लघु-से-लघुतर होते जाते अस्तित्व की त्रासदी को सशक्त ढंगसे उकेरता है।

उपन्यासों में फंतासी का प्रयोग होने के कारण कुछ प्रतीकों को समझ लेना आवश्यक हो जाता है। "चूहा" यहाँ फाइल का प्रतीक बनकर आया है। फाइलों को निबटाना "चूहों को मारने" के समान है। इस "चूहेमार" क्रिया का कर्ता दफ्तर का क्लर्क-बाबू-मुंशी "चूहेमार" है। इसी उपक्रम में कार्यालय के लिए चुहाखाना, बडे बाबू (हेड क्लर्क) के लिए "बडा चूहेमार", पुरानी फाइलों को सुरक्षित रखनेवाले कक्ष को "मुहाफिज़खाना" तथा उसके बड़े बाबू के लिए "मुहाफिज" जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है।

आधुनिक मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति की सबसे बड़ी विवशता यह है कि आजीविका के लिए उसे अरूचिकर प्रतिभा-नाशी काम करना पड़ता है । साहित्य में एम॰ए॰ या विज्ञान में एम॰एस॰सी॰ करने के पश्चात् किसी बेन्क या सरकारी दफ्तर में बैठकर फाइलों को उलटते-पुलटते रहना "चूहा मारना" नहीं तो और क्या है ? व्यवस्था के ढाँचे में ढलकर सब एक-से बिना चेहरे के, व्यक्तित्वहीन हो जाते हैं । अत: लेखकने पात्रों के नाम न देकर "ग", "त", "प", आदि से काम चलाया है । केवल "ग" की "प्रेमिका" के रूपमें सोनिया का नाम आया है क्योंकि "चूहे खाने" से सम्बन्धित न होने से उसका अपना व्यक्तित्व है ।

उपन्यास का नायक "त" चूहेखाने में नौकरी करने के लिए विवश है । वह इस आत्मघाती काम को इसलिए किए जा रहा है कि उसकी एक छोटी बहिन है । बहन की शादी के बाद वह इस काम को छोड़ देगा । उसका मित्र "ग" एक चित्रकार है । उसे चूहेमारों से सख़्त नफ़रत है । वह जब तब चूहेमारों पर व्यंग्य कसता रहता है । चूहेखाने के नियमों का उल्लंघन करने पर उसे "चूहाखाना" छोड़ देना पड़ता है । आर्थिक विवशता के कारण वह अपने चित्र "प" को बेच देता है । "प" व्यवस्था से जुड़ा हुआ एक मक्कार चित्रकार है । उसके पास पैसा है, प्रसिद्धि है । चित्र जब "ग" के थे कोई पूछता नहीं था, वे ही चित्र "प" के होने पर कला के उच्चतम शिखरों का स्पर्श करने लगे ।

इसमें दफ्तरी जिन्दगी की एकरसता- बिरसता, अफसरों की भ्रष्ट जिन्दगी क्लर्कों की आपसी गुटबन्दी और उनकी पारस्परिक ईर्ष्या आदिका बड़ा ही सटीक एवं यथार्थ चित्रण हुआ है । डॉ॰ हेमचन्द्र जैन के शब्दों में -- "एक

प्रकार से इस उपन्यास को पिछले वर्षों में प्रकाशित हिन्दी का पहला प्रयोगधर्मी उपन्यास - इस अर्थ में कहा जा सकता है कि चूहे की प्रतीकात्मकता का सहारा लेकर बदीउज़्ज़मां ने फैण्टसी के परिवेश में ज़िन्दगी की सचाई को पहले खोजा है और फिर उसे पूरी ताकत से कह डाला है । यही वजह है कि वह उपन्यास आज के व्यवस्थातंत्र और उसके सबसे घटिया पक्ष नौकरशाही की दयनीयता, क्रूरता और अर्थहीनता की अभिव्यक्ति का साफ़ - सुथरा प्रतीकात्मक दर्पण बन गया है ।"[25]

सबहिं नचावत राम गोसाई :

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में "सबहि नचावत राम गोसाई" अपनी एक अलग पहचान रखता है । इसमें वर्माजीने एक राज्य की गन्दी कुत्सित राजनीति का व्यंग्य-प्रधान चित्रण किया है । भ्रष्टाचार की अमरवेल पर पनपती राजनीति की यह घिनौनी छवि सारे देश की वर्तमान स्थिति का दर्पण है । ब्लेकमार्केटिंग एवं स्मगलिंग के धनी सेठ राधेश्याम, डाकू का वंशज गृहमंत्री जबरसिंह और संस्कारों - भावनाओं में डूबता-उतरता पुलिस अधिकारी रामलोचन - साम्प्रतिक जीवन के इन तीन बिन्दुओं के आसपास कथा का ताना-बाना बुना गया है । उपन्यास को चार खण्डों में विभाजित किया गया है -- राधेश्याम: बुद्धि; जबरसिंह भाग्य; रामलोचन पाण्डे : भावना और चौथा उठापटक । वैसे इस उपन्यास में भी कहीं-कहीं नियतिवादी चिंतन और किस्सागो शैली के दर्शन होते हैं । पात्रों की कठपुतलियों को वर्माजी का कलाकार यहाँ भी नचाता है, किन्तु समूचे उपन्यासका रूपबन्ध उसे एक व्यंग्यात्मक उपन्यास की कोटि में रख देता है, अत: उसकी चर्चा का मोह-संवरण कठिन है ।

उपन्यास का प्रारंभ ही व्यंग्यात्मक है -- "ज्ञान किस समय प्राप्त होता है, किन परिस्थितियों में प्राप्त होता है और किस निमित्त से प्राप्त होता है, इसका न कोई नियम है और न कोई विधान है । बहरहाल इतना तै है कि लाला धासीराम को अनायास ही ज्ञान प्राप्त हो गया, और ज्ञान प्राप्त होते ही जैसे उनके जीवन की धारा बदल गयी ।"[26] इस उपन्यास में लेखक ने शासक (power) शासनतंत्र (administration) और वाणिज्य (commerce) के गठबन्धन का पर्दाफाश किया है ।

प्रथम खण्ड में घासीराम से राधेश्याम तक की विकास - दौड़ का लेखा-जोखा है । घासीराम एक सामान्य कुटिल-बुद्धि डाँडी-मारू कृपण बनिया है । उसका पुत्र मेवालाल रूपये से रूपये को पैदा करने की कला में दक्ष है । पिता द्वारा प्राप्त धर्मादा खाते के 500 रूपयों की शक्ति पर हजारों का दूसरों का चन्दा जोड़कर सरकारी जमीन पर ठाकुर द्वारा स्थापित कर लाखों की संपत्ति पर कुण्डली मारकर बैठ जाने की कला उसे आती है । पिता के पैसों को महाजनी में लगाकार सूद-दर-सूद वसूलता उसे वह लाखों में तब्दिल कर देता है । उसका पुत्र राधेश्याम औद्योगिक क्रांति की हवा को सूंध लेता है । कल - कारखाने, ठेकेदारी, ब्लैक मार्केटिंग, स्मगलिंग आदि से वह करोडों में खेलनेवाले एक महान प्रतिष्ठान का मालिक हो जाता है । पैसे खिलाओ, पैसे पाओ उसका मूल-मंत्र है, इससे वह सभी को खरीद लेता है । पूंजीपति और शासन की मिली-भगत यहाँ रंग लाती है । राधेश्याम की इस उन्नति में उसकी कुटिल बुद्धि का योगदान है ।

दूसरे खण्ड में नाहरसिंह राठौर से जबरसिंह तक की मंज़िल तय की गई है । नाहरसिंह मूलत: डाकू था । नाहरसिंह डाकू और बेडिन जाति की भमरी की संतान हैं केहरसिंह । केहरसिंह जमींदारी करते हैं । इसी केहरसिंह की औलाद है -- जबरसिंह । स्वाधीनता - आन्दोलनों में भाग लेते-लेते पहले स्थानीय नेता और फिर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उत्तरप्रदेश के गृहमंत्री-पद तक वह पहुँच जाता है । परंतु यहाँ तक पहुँचने में वह सत्याग्रही निश्छल देशप्रेमी जबर कहीं खो जाता है और उसके स्थान पर गला-काट स्पर्धा में डूबा एक स्वार्थान्ध कुटिल राजनीति का जबरदस्त खिलाडी जबरसिंह स्थापित हो जाता है । यह भारत की विगलित राजनीति का प्रतीक है । चुनावमें वह नैतिकता - अनैतिकता की चिन्ता नहीं करता । राजनीतिक धरातल पर वह आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थ को अधिक उपयुक्त समझता है ।[27] इस सम्बन्ध में उसका कथन है -- "आदर्शवाद का युग देश के स्वतंत्र होते ही समाप्त हो गया है । अब आदर्शवाद एक नारा भर रह गया है । असली चीज हैं अपनी सत्ताकी रक्षा और सत्ता की रक्षा केवल पैसे के बल पर हो सकती है ।"[28] रामलोचन पाण्डे की भी ऐसी ही कहानी है । इस well - knitted कथापट में और भी कई छोटे-मोटे पात्र और घटनाएँ संघटित होती हैं । किन्तु इस सबके ऊपर है लेखकका व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण । राजनीतिक उठापटक, राजनीति, शासन-तंत्र और व्यापार का गठबन्धन, धर्म के नाम पर चलनेवाले धतिंग, पुलिस में व्याप्त भ्रष्टाचार, साहित्य-जगत की अनेक विसंगतियाँ, गुटबन्दियाँ आदि का बड़ा ही व्यंग्यात्मक चित्रण उपन्यास में उपलब्ध होता है ।

किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई :

कथा-शिल्प के धनी श्री शैलेश मटियानी का यह उपन्यास अपने व्यंग्यात्मक स्वरूप के लिए प्रसिद्ध है । इसमें नारी के दो भेदों -- सेठानी नर्मदाबेन और नौकरानी गंगूबाई -- की कथा अत्यधिक रोचक शैली में कही गई है ।

अभिजात - वर्ग की वर्णसंकरीय सृष्टि का परिचय हमें "कंकाल" (जयशंकरप्रसाद) जैसे उपन्यास में प्राप्त होता है । प्रस्तुत उपन्यास में मोहमयी माया नगरी बम्बई के व्यावसायिक फिल्मी परिवेश में उस वर्ग की कलई को परत-दर-परत खोला गया है और सोने का पानी चढ़ाई हुए लोगों के भीतर का असली पित्तल सामने लाया गया है । साथ ही ऊपर से पित्तल दिखनेवाले लोगों के भीतर का कुंदन भी प्रत्यक्ष हुआ है । नगीनभाई सेठ, रहीमा पठान, सेठानी नर्मदाबेन पहली कोटि में आते हैं तो केले बेचनेवाली गंगूबाई, कल्लन उस्ताद, गंगूबाईका प्रेमी कवि कृष्ण आदि दूसरी कोटिमें ।

उपन्यास का कथा-शिल्प, भाषा-सौष्ठव प्रभृति "सूरज का सातवाँ घोडा" की याद दिलाता है । कहानी कल्लन उस्ताद के माध्यम से उस्ताद की शैली में चलती है । प्रारम्भ के आमुख में ही कहा गया है -- "न सात समन्दर -- पार का, न राजा इन्दर के दरबार का, और न शहजादे शहरयार या साढ़े तीन यार का -- यह किस्सा है, गाँठिया-पापड़ी, उसल-पाव-मसाला डोसा, बटाटाबड़ा, चालू -- स्पेशल चा और भेल-पुरी के देश बम्बई का ।"[29] और कल्लन उस्ताद अपने चेले पोपट को तिरिया के दो भेद बताते हुए कहते हैं -- "सुन", वस्ताद लँगोटी में पड़ी

जूं लँगोटी में ही पिचका देता है -- "इस बम्बई में -- जहाँ न फुटपालियों को चैन है, न महलों को ही आराम - तिरिया के सिर्फ दो भेद होते हैं ।"[30] और वस्ताद किस्सा यों शुरू करता है -- "सुन, कलन्दर । देसाई गुवन, सातवाँ माला, कालबादेवी, मुंबई नं॰2, के शानदार फ्लेट में रहनेवाली सेठानी नर्मदाबेन और गाँव पिलखोली, पोस्ट-तालुका रेसी, जिल्हा सतारा, हाल मुकाम मकनजी-बमनजी की चाल, खोली नं॰ पंधरा, भुलेश्वर मुंबई नं॰2 की गंगूबाई का यह किस्सा है ।"[31]

"पहली के पास दिल था, दिलदार थे, दौलत था । दौलत के नशे में, उसने दिल भी गँवाया, दिलदार भी । खजूर-छाप नोटों से उसने जिस्म तो खरीदे, पर सच्ची मोहब्बत न खरीद सकी । सो, बेटे, एक दिन उसे कहना पड़ा -- "गंगूबाई, तने नाणा केटला जोइए, मारा पासे थी लई जा । जो तारी रहेवानी सगवड ना होय, तो हुं तने मारो बांदरानो फ्लेट आपीशूं -- पण, हुं तारा पगे पडीशूं, तू करसन ने तारा प्रेम मां पडवानी ना पाड़ी दे ।"[32]

"दूसरी के पास सिर्फ दिल था, जिसे दाँव पर लगाकर, दिलदार और कलदार बटोरने के कई सुनहरे मौके उसके सामने आए, पर उसने "एक आणे ला दोन - दोन आणे ला तीन" केले को बेचे, दिल न बेच सकी । नर्मदाबेन से बोली - "सेठानी बाई, मला ही तुमची दौलत न को, तो बॉदरा चा फ्लेट नको । तो माझा मनाचा मीत - तो करसन, करसन महाराजे गोविंदा, मला फक्त तो च पाहिजे ।"[33]

कथा बस इतनी-सी होती, तो वह महज़ एक रोमानी प्रेमकथा मात्र बनकर रह जाती। किन्तु इसके साथ ही लेखक ने अनेक व्यंग्यात्मक बिन्दुओं को तलाशा है। विपुलवासनावती नर्मदाबेन सेठानी और नगीनभाई सेठका नकली दाम्पत्य जीवन; पत्नी की वासनापूर्ति हेतु स्वयं सेठ द्वारा अलग अलग प्रकार की व्यवस्थाएं; स्कूल, धर्मशाला, आश्रम, इत्यादि में सेठानी द्वारा अपनी पसन्द के आदमियों को रखवाना; सेठ द्वारा सेठानी की वासनापूर्ति के लिए रामदुलारे को रखना और स्वार्थ-पूर्ति के पश्चात् मिथ्या-आरोप लगाकर नासिक सेन्ट्रल जेल में भिजवा देना; उसकी पत्नी रामी का सेठ के पास पाँच रुपये के लिए जाना और सेठ द्वारा मना किए जाने पर आसन्नप्रसवा की स्थिति में भी रहीमा पठान के साथ सोने के लिए विवश होना; ऐसी स्थिति में रामी का निधन; उसके अनाथ पुत्र पोपट का कल्लन उस्ताद द्वारा पालन पोषण; पोपट के खातिर बेंकों में लूट चलानेवाले कल्लन उस्ताद का इरानी होटलों में प्लेटों को धोना; यह और ऐसी अनेकों घटनाएं उपन्यास को यथार्थवादी व्यंग्यात्मक उपन्यासों की कोटि में प्रतिष्ठित कर देता है।

एक मि॰ खन्ना है। खादी का झोला कन्धे पर डाले "स्पेशल वर्कर" बने बड़े घरों के चक्कर काटते हैं। इन बड़े घरों की औरतों की नब्ज़ वह पहचानता है। उनकी वासनापूर्ति के लिए एडवान्स पैसे माँगता हैं। एक दिन शामके समय भी नर्मदाबेन सेठानी ने "सीक्रेट-रूम" लेने की इच्छा प्रकट की, तब बेगैरत होकर कहने लगा -- "मैं मजदूर नहीं हूँ। इस बिल्डींग (शरीर) को बनाए रखना, मेरी "बिजनिस" का पहला उसूल है।"[34]

संक्षेप में अभिजात-वर्ग की ऐसी अनेकों विसंगतियों को उकेरकर लेखकने इस वर्ग पर करारे व्यंग्य किए है ।

दिल एक सादा कागज :

"दिल एक सादा कागज", "आधागाँव" से अलग प्रकार का उपन्यास है । "आधा गाँव" में विभाजन व टूटन की व्यथा का दर्द है । इसमें स्वातंत्र्योत्तर विषाक्त स्थितियों, कटुता और विसंगतियों से उत्पन्न एक कड़ुआ व्यंग्य है । उपन्यास ऊपर - ऊपर से गुदगुदाता है, परंतु भीतर-ही-भीतर एक कसैलापन फैलता जाता है । यह ज़ैदी विला, ढाका और बम्बई की कहानी है । कथा के प्रारंभ में ढाका हिन्दुस्तान में था, फिर वह पूर्वी पाकिस्तान में चला गया और कहानी के अंतमें वह बांगलादेश में हो गया । उपन्यास "जैदी विला का भूत", "एक नदी के चार किनारे", "पत्नी x मकान = ?", "नारायण गंज", "मन की प्यास जहाज का पंछी" जैसे आकर्षक शीर्षकों में विभाजित हैं । अंतमें पुन: "जैदी विला का भूत" और "त्रिकोण" शीर्षक दिए गए हैं ।

"जैदी विला का भूत" में रफ़्फ़न की बाल-स्मृतियाँ कैद हैं । व्यंग्य तो इस उपन्यास की फितरत में है । अस्तु, यहाँ भी भारतीयों की मानसिक दासता पर व्यंग्य मिलते हैं, परन्तु हास्य और प्रसन्नता के कुछ चित्र भी उपलब्ध हैं । आगे के प्रकरणों में रफ्फन का जीवन संघर्ष दिखाया है । यहाँ "दिल एक सादा कागज" में बम्बई के उस फिल्मी माहौल की कहानी भी है जिसकी भुलभुलैया आदमी को भटका देती है और वह कहीं का नहीं रह जाता । "पत्नी x मकान = ? " तथा "नारायण गंज" में

नारायण गंज की भौंडी हरकतें, प्रदर्शनप्रियता, नौकरशाही चोंचले, नकली ज़िन्दगी, स्कूल-कॉलिज का पॉलिटिक्स, लौंडेबाजी और उसका स्थानीय राजनीति में महत्व, पाखाना-प्रकरण, कवि-सम्मेलन और मुशायरे, एबस्ट्रेक्ट आर्ट जैसे अनेक प्रसंगों में लेखक ने व्यंग्य से अच्छा काम लिया है ।

मिस्टर नार्थ अंग्रेज होते हुए भी बड़ी साफ़ घुली-धुलाई उर्दू बोल लेते थे, परन्तु उनकी भारतीय मेम अंग्रेजी में हिन्दी बोलता है, यथा - "आम पूछता है जन्नट कि मिस्टर नार्थ को खिलाफट मूवमेण्ट में पड़ने को कौन बोला था ?"[35] यह मिसेज़ नार्थ जब पैदा हुई थी तो उसका नाम रजनी था । पिता का नाम मँगरू था । यह मँगरू गोरा बाज़ार में साहब लोगों के कपड़ें धोया करता था । मिस्टर नार्थ मँगरू की बेटी पर आशिक़ हो गये और रजनी मिसेज नार्थ बन गई । मँगरू मिस्टर एम॰ डैविड हो गया और रजनी केथरीन डैविड "मिस्टर डैविड बन जाने के बाद मंगरू कोई बहुत अच्छी धुलाई नहीं करने लगा था । पर वह महँगा अवश्य हो गया था । और पढ़े - लिखे लोग उसीसे कपड़े धुलवाते थे ।"[36]

उपन्यास में फिल्मी-माहौल पर भी कई व्यंग्य है । रफ़्फ़न के दोस्त रामावतार की प्रेमिका शारदा कालिचरनके साथ बम्बई भाग आती है । शारदा हीरोइन होनेका ख्वाब देख रही है । कालीचरन अब श्री दिनेश ठाकुर मस्ताना होकर "धाँसू सब्जेक्ट" पर कहानियाँ लिखता है । शारदा तब व्हिस्की नहीं पीती थी । तब वह बदन छिपाने के लिए कपड़े पहनती थी, अब बदन दिखाने के लिए पहनती है ।

Smt. HANSA MEHTA LIBRARY · Smt. · LIBRARY · MAHARAJA SAYAJIRAO

एक स्थान पर मँझला प्रोडयुसर रफ़फ़न को कहना है -- "बस, आज तुम कोई ऐसा धांसू सब्जेक्ट सुनाओं कि साले की चिर जाये। मेरी बहन साली के कैरियर का सवाल है यार। "बहन" कहते-कहते उसने आँख मार दी। वैसे साली मेरी बेहण नहीं है। पर उस माँ के लौडे को बहेंण शिकार करने का बड़ा शौक है, यार।"[37]

वैसे रफ़फ़न को यह अच्छी तरह मालूम है कि "बम्बई में प्रोडयुसर की बीबी से अच्छी कहानी कोई नहीं लिख सकता। रहा स्क्रीनप्ले। तो हिन्दी फिल्मों में उसकी ज़रूरत ही नहीं पडती। अब बचा डायलाग। ज़्यादातर डायलाग हीरो खुद लिख लेता है।"[38] एक-दो व्यंग्य और देखिए -- "बड़ा हीरो कहानी सुनने में इतना गुम था कि छोटी हीरोइन की जाँध पर पड़ा हुआ अपना हाथ भूल गया था और उसके सारे बदन पर अपने खोये हुए हाथ को बेख्याली में ढूँढ रहा था।"[39] एक स्थान पर हीरो लेखक बाग़ी आजमी याने रफ़फ़न से कहता है : "घिसी-पिटी कहानियाँ बनाने से फायदा भी क्या। मैं तो दरख्तों के चारों तरफ़ दौड़ दौड़ कर गाना गाते - गाते और विलेन से लड़ते-लड़ते बोर हो गया हूँ। बाग़ी साहब कहानी को दरअसल जिन्दगी की कोख से जन्म लेना चाहिए - बच्चे की तरह।"[40] और तुरन्त प्रोडयूसर लेखक बाग़ी आज़मी को कहता है -- "यह डायलोग नोट कर लो बाग़ी जी। काम आयेगा।"[41]

उपन्यास की कथा कहीं A to Z नहीं चलती। वस्तुत: यह "जैदी विला के भूत" की कहानी है, जिसके कई नाम है -- रफ़फ़न, सय्यद अली, रफ़अत जैदी, बाग़ी आजमी और इन चारों में उसकी छाया है।

रफ़्फ़न से बाग़ी आज़मी तक की यात्रा में समझौते के कई मुलम्मे चढ़ चुके है । अध्यापक, कवि और लेखक में वह बचपन का रफ़्फ़न कही खो गया है । प्रस्तुत उपन्यास इसी खोये हुए को ढूँढने का प्रयास है ।

म हा भो ज :

अपने सीमित अनुभव - संसार की अभिव्यक्ति ही इनके लेखन में हुई है, आधुनिक समीक्षा के सोच के इस "मिथ" को नकारनेवाली कुछ कृतियाँ इधर आई हैं जिनमें "अनित्य" (मृदुला गर्ग), "जिन्दगीनामा" (कृष्णा सोबती), "महाभोज" (मन्नु भण्डारी) आदि मुख्य हैं ।

इस सम्बन्ध में अपनी संक्षिप्त भूमिका में मन्नूजी कहती हैं : "अपने व्यक्तिगत दुख-दर्द, अंतर्द्वन्द्व या आंतरिक "नाटक" को देखना बहुत महत्वपूर्ण, सुखद और आश्वस्तिदायक तो मुझे भी लगता है, मगर- जब घर में आग लगी हो तो सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसीका प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता । सम्भवत: इस उपन्यास की रचना के पीछे यही प्रश्न रहा हो ।"[42]

"महाभोज" की राजनीतिक विडम्बनाओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ बंसीधर शर्मा ने लिखा है : "जनता महसूसने लगी कि लुभावने आलोक-पथ के बहाने उसे एक अनन्त अँधेरे और भटकाव भरे पथ की ओर ढकेला जा रहा है । उसके इस मोहभंग की सर्वाधिक प्रखर और धारदार अभिव्यक्ति हुई, हिन्दी के प्रसिद्ध कथाशिल्पी श्री फणीश्वरनाथ रेणु के "मैला आँचल" (1954) में । इसके बाद तो एक सिलसिला शुरु हो गया

ऐसे उपन्यासों का।और अनेक हिन्दी कथाकारों ने नारों और आश्वासनों में बहती हुई राजनीति और उसके प्रभावों में बुरी तरह ग्रसित भारतीय जनता की विवशताओं को वाणी प्रदान की । इस दृष्टि से कई उपन्यासों के नाम गिनाये जा सकते हैं, मन्नू भण्डारी का "महाभोज" भी इसी श्रृंखला में आगे की कड़ी है, आगे ही इसलिए कि इस उपन्यास में चित्रित राजनीतिक घटियापन हमारे वर्तमान की वास्तविकता है, दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यह उपन्यास उस राजनीति को लेकर चला है जिसके वृत्त में हम घिरे हैं, जो हमारे आसपास है, जिसमें हम सांस ले रहे हैं ।"[43]

हरिजन-समस्या को लेकर "धरती धन न अपना", "नाच्यो बहुत गोपाल", "एक टुकड़ा इतिहास" प्रभृति उपन्यास लिखे गए हैं, किन्तु "महाभोज" इस समस्या के एक नये आयाम को हमारे सामने रखता है । इसका व्यंग्य बड़ा ही सूक्ष्म है । उपन्यास की समाप्ति पर बिन्दा के ये शब्द बार-बार गूंजते हैं : "नहीं नहीं ! उसे मारा गया है ! क्योंकि वह ज़िन्दा था ! जिन्दा रहनेका मतलब समझते हैं न आप ? लोग भूल गये हैं जिन्दा रहने का कतलब, xx और जो जिन्दा हैं, वे अब जी नहीं सकते अपने इस देश में । मार दिये जाते हैं, कुत्ते की मौत ! जैसे बिसू मार दिया गया ।"[44]

आज़ादी के उपरान्त हमारे देश की राजनीति में एक नया गर्हित परिमाण जुड़ा - गुण्डाइज़्म ! सरोहा का जोरावर ऐसा ही एक गुण्डा है । प्रदेश के मुख्यमंत्री दासाहब का वह खास आदमी है । सरपंच का भतीजा है । पूरा गाँव थर-थर कांपता है उसके आतंक से । बिन्दा ठीक ही

कहता है : "लोगों के घर, जमीन और गाय-बेल ही रेहन नहीं रखे हुए हैं जोरावर और सरपंच के यहाँ, उनकी आवाज और जबान तक बन्धक रखी हुई है ।"[45]

और इस बन्धक आवाज़ को छुड़ाने का काम एक शिक्षित नवयुवक बीसू करता है । हरिजनों के बच्चों को पढ़ाता है । इन मुर्दा लोगों को ज़िन्दा करने की एक कोशिश करता है । परिणामत: झूठे आरोपमें धर-पकड़ लिया जाता है । कुछ वर्ष बाद जेल से वापिस आने पर पुन: अपने काम में लग जाता है । गाँव के हरिजन-मजदूरों को उचित सरकारी मजदूरी दिलाने के लिए उन्हें संगठित करता है । उनके इरादों को कुचल देने के लिए हरिजन बस्ती में आग लगायी जाती है । नौ आदमियों को भुन दिया जाता है । बीसू प्रमाणों को जुटाकर दिल्ली जानेकी तैयारी करता है । बीसू के प्रमाण बड़ी-बड़ी राजनीतिक हस्तियों को मलियामेट कर सकते हैं । अत: उस आवाज़ को भी सदा-सदा के लिए बन्द कर दी जाती है ।

बीसू की यह हत्या भी एक आम घटना बनकर रह जाती, पर सरोहा में उपचुनाव आता है । राजनीतिक गिद्धो के लिए बिसू की मौत "महाभोज" का अवसर बन जाती है । विरोधी दल के नेता सुकूलबाबू इस मौके का भरपूर उपयोग करने के लिए रेली का आयोजन करते हैं । बिसू के पिता हीरा के पास जाते हैं । हरिजनों वोटोंको बटोरनेका यह सुनहरा मौका वे चुकना नहीं चाहते । मुख्य-मंत्री दा साहब भी सरोहा जाते है । "घरेलू उद्योग योजना" का उद्घाटन करते हैं । बिसू के पिता हीरा को

मिलने जाते हैं । योजना के तहत पचास हज़ार का चैक दिया जाता है । बिसूके लिए उच्चस्तरीय पुलिस जाँच का आश्वासन देते हैं । डी॰आई॰जी॰ सिन्हा साहब इसे आत्महत्या का स्वरूप देते हैं और फर्जी जाँच के लिए एस॰ पी॰, श्री सक्सेना को भेजते हैं । सक्सेना भी पहले तो सिन्हा के बताए रास्ते पर चलता है, पर रिसर्च प्रोजेक्टवाले महेशबाबू और बिन्दा को मिलने पर जाँच की दिशा बदल जाती है । हत्या का सूत्र जोरावरकी तरफ जाता है । तभी सक्सेना को बुला लिया जाता है । पहले तबादला और फिर नौकरी से निलम्बित । बिसू की हत्या के आरोप में उसके अभिन्न साथी बिन्दा को पकड़ लिया जाता है, इस आरोप के साथ कि "चतुर अपराधी ही सबसे अधिक आक्रमक मुद्रा अपनाता है ।"[46]

सरोहा का उपचुनाव दा साहब का खास आदमी लखनसिंह जीत जाता है । मशाल के संपादक दत्ता साहब को सरकारी विज्ञापन मिलने लगता हैं । डी॰आई॰जी सिन्हा साहब को प्रमोशन मिलता है । शहर की तीन अलग - अलग कोठियों पर पार्टी होती है जिसके ठहाकों में बिसूकी मौत कहीं खो जाती है । मानो बिसू की लाश को ये गिद्ध और गीदड़ नोंच-खसौट रहे हैं ।

कुरु कुरु स्वाहा :

हक्सले की मान्यता यह है कि साहित्य का अपना कोई प्रभाव नहीं होता, गोया साहित्य किसीको कुछ-से-कुछ बना नहीं सकता । वह तो पढ़नेवाले के भीतर पहले से मौजूद "कुछ को" जगा सकता है, सजा-सँवार सकता है । इसलिए विभिन्न रुचियों और स्तरों का साहित्य होता है ।"[47]

बुनियाद-फेम मनोहर श्याम जोशी की यह रचना भी पाठक के कई सुप्त-गुप्त कोनों को छूती है । भाषा, शैली, शिल्प, शास्त्र-ज्ञान, आधुनिक - पौराणिक कई संदर्भ - इतना वैविध्य इसी एक रचनामें है कि उसकी कई प्रकार की प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं । बकौल जोशीजी के आगामी उपन्यास "कपीशजी" के कथानायक विनायकप्रसाद शर्मा "कपीश" के यह भी एक वर्जेस मात्र है : "अगर लेखक ठीक ठीक यह जान पाता कि वह क्या लिखने बैठा है, अगर लेखक ठीक-ठीक वह लिख पाता जो लिखने बैठा है, अगर पाठक ठीक-ठीक वह पढ़ पाता जो लेखक ने लिखा है तो शायद लिखत-पढ़त की जरूरत ही नहीं होती । किन्तु जैसा कथानायक विनायकप्रसाद शर्मा "कपीश" कहा करते थे : कछु और बर्सेज कछु और, दिस इज़ द नेम आफ द गेम ।"[48]

इनमें प्रथम दो "अगरो" को छोड़ भी दें तो भी पाठकवाला "अगर" तो रहता ही है । जोशीजीने इस उपन्यास में जो भी लिखा है उसे ठीक ठीक समझ पाना अत्यंत कठिन है क्योंकि "बहुत ही सरल ढंग से जटिल और बहुत ही जटिल ढंग से सरल यह कथाकृति, सुधी पाठकों के लिए विनोद, विस्मय और विवाद की पर्याप्त सामग्री"[49] जुटाने की क्षमता रखती है । उपन्यास में अनेक व्यंग्यात्मक क्षणों को तलाशा-तराशा गया है, अनेक व्यंग्यात्मक मुद्राओं और स्थितियों को उकेरा गया है, परन्तु इन सबके अभाव में भी केवल भाषा-शैली के बल पर हास्योन्मुखी व्यंग्य पृष्ठ-पृष्ठ पर अंकित हुआ है ।

लखनऊ विश्वविद्यालय के विज्ञान के स्नातक जोशीजी स्कूल मास्टरी, क्लर्की और बेरोजगारी के तजुर्बों को संभाले - सहेजे पत्रकारिता में आये ।

प्रेस, रेडियो, टी॰वी॰, फिल्म, विज्ञापन – यानी सम्प्रेषण का कोई भी ऐसा माध्यम नहीं जिससे लेखक गहरे स्तर पर न जुडा हो । पत्रकार की हैसियत से, खेलकुद से लेकर दर्शन–शास्त्र तक तरह तरह के विषयों पर उन्होंने कलम – घिसाई की है और उन सब का परिणाम है "कुरु कुरु स्वाहा" -- ।

स्व॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी मौज में आकर "गप्प" को गल्प का पर्याय बताते थे । "मोडर्न गप्प" लिखने की उनकी इच्छा थी, जिसकी पूर्ति जोशीजी ने "कुरु कुरु स्वाहा"······· के रूप में की है । बकौल जोशीजी के यह उपन्यास "दृश्य और संवादप्रधान, गप्प–बायस्कोप है । अतिरिक्त आग्रह करता है कि पढ़ते हुए देखा – सुना जाये । गप्प है, बायस्कोप है, इसलिए इसमें वर्णित सभी स्थितियाँ, सभी पात्र सर्वथा कपोल – कल्पित हैं । और सबसे अधिक कल्पित वह पात्र जिसका जिक्र इसमें मनोहर श्याम जोशी की संज्ञा और "मैं" सर्वनाम से किया गया है ।"[50]

उपन्यासका नायक तिमंजिला है । पहली मंजिल में बसा है "मनोहर" – श्रद्धालु, भावुक किशोर । दूसरी मंजिल में "जोशीजी" नामक इण्टेलेक्चुअल और तीसरी में दुनियादार श्रद्धालु "मैं" जो इस कथा का सुना रहा है । नायिका है "पहुँचेली" -- तारा झवेरी", एक अनेक विषय पारंगता, सिद्धा नारी । नायक, मि॰ डोमनवाला, खलीक, मि॰ तलाटी, मि॰ तिरखा सभी के लिए एक अनबूझ पहेली जो इस तिमंजिला नायक को धराशायी करने पर तुली हुई है । नायक और नायिका के आसपास है बम्बई का बुद्धिजीवी और अपराधी जगत ।

"कुरु कुरु स्वाहा" में कई–कई कथानक होते हुए भी कोई कथानक नहीं है, भाषा और शिल्प के कई–कई तेवर होते हुए भी कोई तेवर नहीं है,

आधुनिकता और परंपरा की तमाम अनुगूँजें होते हुए भी कहीं कोई वादी-संवादी स्वर नहीं है । यह एक ऐसा उपन्यास है जो स्वयं को ही नकारता चला जाता है । यह मजाक है, या तमाम मजाकों का मजाक, इसका निर्णय हर पाठक, अपनी श्रद्धा और अपनी मन:स्थिति के अनुसार करेगा ।"[51]

उपन्यास हजारीप्रसाद द्विवेदी और ऋत्विक घटक को समर्पित करते हुए लेखक ने लिखा है -- "कि सागर थे आप, घड़े में किन्तु घड़े - जितना ही समाया ।", उपन्यास में वर्णित विषय - वैविध्य को देखते हुए कहना पड़ेगा कि अगर घड़े की यह बात है तो सागर का क्या आलम होगा ?

उपन्यास के उपशीर्षक भी बड़े विचित्र हैं -- "चलती का नाम चालू", "एनो मीनिंग सूँ ", "मिस्कास्टिंग कहाँ नहीं होती", "एक कौमी गाली", "पूरी कौम के नाम", "कृपया अपना नरक खुद तलाशें", "भावनाओं का बाजार भाव", "और फ्रायड को नींद आ गयी", "आद्यां प्रकृति स्वरामि", "बायलौजी की होम्योपेथिक", "कुछ कलावला हो जाती थी", "एटार्नल मिस्ट्री बोर्न इन बैंगोल", "तन्त्र का पेटिकोट में घुसो नका", "अगर मैंने कहीं, अनुगूँज से कही", आदि । इन शीर्षकों से ही उपन्यास की विषय-वैविध्यता एवं शैलीका पता चल जाता है ।

ढेर सारे पात्र, ढेर सारी घटनाएँ - वास्तविक - काल्पनिक; व्यंग्यात्मक - हास्यास्पद; श्लील - अश्लील; सुंदर-फूहड; अंग्रेजी, हिन्दी, फ्रेंच, जर्मन, संस्कृत आदि भाषाओं के ढेर सारे उद्धरण-संदर्भ इन सबने मिलकर कृति को एक विवादास्पद रूप दे दिया है ।[52]

नेताजी कहिन :

मनोहर श्याम जोशी का यह व्यंग्य - उपन्यास "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में धारावाहिक रूप में पहले आया । उसके छुटपुट लेख व्यंग्य-निबन्धों का आभास देते हैं, परन्तु यह सारा कथ्य नेताजी नामक पात्र के इर्द-गिर्द है, अतः उसे एक उपन्यास का रूप भी मिल गया है । उपन्यास की बैसवाडी बोली बहुत ही आकर्षक बन पड़ी है । नेताजी का कथन सुनते ही हास्य-व्यंग्य के फव्वारे-बाण चलने लगते हैं । उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में मनुष्य की सबसे महान उपलब्धि रही -- स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्व जैसे महान मूल्य; किन्तु बीसवीं सदी के आते-आते उसका स्वरूप इतना भयंकर, बीहड, गर्हित, फूहड और अश्लिल हो गया है कि लेखक के शब्दों में -- "चोर चतुर बट मार नट प्रभु प्रिय भंडुआ भंड" स्थापित हुए और तब लोकतंत्र ने दोहा पढ़ा -- "रहिमन सिट सायलेण्टली" ।

उपन्यास भाषा की कला है और भाषा बोलने से आती है । प्रस्तुत उपन्यास में नेताजी के बोलने का ढंग कुछ ऐसा है कि सुननेवाला को तो हँसी आ जाती है लेकिन जिसे लक्ष्य करके कहा जाता है, वह भीतर-ही-भीतर जलभुनकर राख हो जाता है । नेताजीने इसमें अपनी बिरादरी पर खूब कसकर व्यंग्य किये हैं, परंतु समाज के दूसरे क्षेत्र भी उनकी व्यंग्य-दृष्टि से अनदेखे और अतएव अनकहे नहीं रह गये हैं । जयन्ती मनाने और ग्रंथावली छपवानेवाली साहित्यिक संस्थाओं के कर्णधार, फाइव स्टार होटल में जीमनेवाले टोप के वी॰आइ॰पी॰ मयडम के चम्मचों की खनखनाहट, ढाई लाख का रिश्वत देकर करोडो का काम निकालने वाले उद्योगपति, विदेश यात्रा का जुगाड बैठानेवाले साहित्यकार, फिरी-फण्ड में यात्रा करनेवाले

नेताजी, स्टंट फिल्मों पर टेक्स मुआफ करवानेवाले प्रोडयूसर और करनेवाले सेन्सर के महानुभाव, पुरस्कार-प्रार्थी साहित्यकार की दयनीय मुद्रा, सरकारी खरीद के लिए मरनेवाले हिन्दी के साहित्यकार एवं प्रकाशक, सम्पूर्ण क्रांति के सूत्रधार के जन्मोत्सव के लिए एकत्र राशिमें से 60 लाख का हिसाब न देनेवाले जनता-जनार्दन के सेवक -- गरज यह कि मुहल्ले स्तर के नेजाओं से लेकर राष्ट्रीय स्तरके नेताओं के कारनामे बातों-बातों में खोले गये हैं। हंसी - हंसी में उनकी गोपनीय, रहस्यपूर्ण और अपरंपार लीलाओं का गान इस प्रकार किया गया है कि जनतांत्रिक मूल्य कराहने - चीखने लगते हैं। नेताजीके रूप में मानो भ्रष्ट मुंह पर बेशरम बेहया आज का आदमी बोल रहा है -- "डेमोक्रेसी में क्या हय, कोसिस करने से इन्सान कुछ भी बन सकता हय। सामन्त साही नहीं हय ससुरी कि अय्यासी सामन्ते कर सकेगा। अउर कौनो नाही।"[53]

नेताजी के कुछ और कथन भी उल्लेखनीय हैं। हिन्दी साहित्य पर नेताजी की यह टिप्पणी कितनी सटीक है -- "अरे तीस करोड़ लोगों की भाषा हय हिन्दी, अउर दस बारह करोड अउर भी हय, जो हिन्दी समझता हय, फिर भी आपका अमर साहित्त ससुर सरकारी खरीद के लिए मरा जा रहा है।"[54]

नेताओं की द्विमुखी नाटकीयता और सादगी प्रदर्शन पर व्यंग्य करते हुए नेताजी कहते हैं - "यह ससुर, गुड की डली टाइप नाटक भी जरूरी हय समझे कक्का। अखबार में खबर फोटू छप जाता हय कि सी•एम• एक दिहाती की कुटिया में जायके गुड के डली ग्रहन कीन।"[55] नेताओं की बायग्राफी पर व्यंग्य कसते हुए नेताजी कहते हैं -- "अरे जिन्होंने कुछ किया उन्हें भी

जमाने के लिए बनानेवालों को बायोग्राफी बनानी पड़ती हय ....मर्जादा पुरूसोत्तम राम का बायोग्राफी तबहि बना जब गोसाई तुलसीदास ने बनाया । बाल्मीक रिसी सीताजी के बायोग्राफी बनाये के चक्करमें रामचन्द्रजी की सयटिंग थोडी गड़बड़ करि गये थे ।"[56] और ऐसी तो सैंकडों व्यंग्योक्तियाँ उपन्यासमें साद्यन्त भरी पड़ी है ।

जंगलतंत्रम् :

नवोदित व्यंग्यकार श्रवणकुमार गोस्वामी का जंगलतंत्रम् एक फैण्टसीनुमा उपन्यास है । सिंह बनाम राजनेता, मोर बनाम प्रशासक, नाग बनाम पूंजीपति और चूहा बनाम आम आदमी - जंगलतंत्रम् के यह चार घटक हैं जिनके माध्यम से आज़ादी के विगत पच्चीस वर्षों की विसंगत और विडम्बनापूर्ण राजनीतिक - सामाजिक स्थितियों की नग्न वास्तविकताको उघाड़ा गया है ।

"जंगलतुत्रम्" की कथा पच्चीस रातों में फैली है । पहली रात की कहानी नानी द्वारा बच्चों को सुनायी जाती है और बाकी रातों की कहानियाँ नानी की कापी द्वारा प्रस्तुत की गई हैं । इस उपन्यास के पीछे की साठोत्तर मोहभंग की मानसिकता को स्पष्ट करते हुए प्रारम्भ में ही नानी कहती है -- "मैं यह कहानी तुम्हें बहुत पहले सुना देना चाहती थी पर नही सुना सकी क्योंकि कुछ दिनों के लिए मैं खुद छलावे में आ गयी थी, पर अब वह छलावा टूट गया है ।"[57]

"जंगलतंत्रम्" के प्रमुख पशु पात्रों में सिंह, मोर, नाग और चूहा है जो क्रमशः पार्वती, कार्तिकेय, और गणेश के वाहन माने जाते हैं । नाग शिवजी के गले में लिपटा रहता है । उनके पारस्परिक झगडे से... तंग आकर शिवजी

उन्हें मृत्युलोक में निष्कासित कर देते हैं । यहाँ से "जंगलतंत्र" की स्थापना होती है । "जंगलतंत्र" की स्थापना होते ही सबसे पहले संविधान बनता है और घोषणा की जाती है कि जंगल-तंत्र एक शासन-व्यवस्था है, जो जंगल के लोगोंकी है, जंगल के लोगों द्वारा संचालित है और जंगल के लोगों के लिए है ।[58] यह संविधान जंगल की भाषा में नहीं, अपितु मोर की भाषामें बनाया जाता है और कहा जाता है कि जब तक जंगल की भाषा समुचित रूपसे संपन्न और विकसित नहीं हो जाती, तब तक मोर भाषा ही राजभाषा रहेगी ।

126 पृष्ठों में फैली हुई इस रूपक-कथा में आज़ादी के बाद के पच्चीस वर्षों की गतिविधियों को लिया गया है । राजनीतिक, प्रशासक एवं पूंजीपति के गठबंधन की यह कथा है जिसमें जंगलवाणी, मंगलवाद, जंगलीकरण, जंगल सुरक्षा कानून, जंगलिस्तान, जंगल सुरक्षा कोष जैसे शब्द क्रमश: आकाशवाणी, समाजवाद, राष्ट्रीयकरण, राष्ट्रीय सुरक्षा कानुन (मीसा), पाकिस्तान, राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के लिए आये हैं जिनकी व्यंजना स्पष्ट है । उपभोग्य पदार्थों का अभाव, चीजों के क्रय-विक्रय पर सरकारी नियंत्रण, महँगाई, चोरबाज़ारी में पिसती आम जनता, समाजवादी नारे, बेंकों का राष्ट्रीयकरण, पड़ोसी देश के युद्ध के द्वारा जन-आक्रोश की दिशा बदलने के छद्म प्रयास, समाचार-पत्रों पर पूंजीपतियों का नियंत्रण, चुनाव की धाँधलियाँ आदि के चित्रण में लेखक की तीखी व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति हमें बरबस आकर्षित करती है । रूपक-भाषा के माध्यमसे लेखकने अफसरशाही और व्यवसायी वर्ग के मुखौटों को खोला है ।

इन तीनों वर्गों के अतिरिक्त बुद्धिजीवी वर्ग की निश्क्रियता, निर्वीर्यता, दोगलापन, दुभाषियागिरी आदि की भी अच्छी खबर लेखक ने ली है । अपने निजी स्वार्थों के लिए नित्य नवीन पैंतरे बदलनेवाले इस वर्ग के लिए लेखक ने गिरगिट के प्रतीक को लिया है । वह आवश्यकतानुसार राजनेता और पूंजीपति वर्गों का पक्ष लेता है । साथ ही आम जनता के प्रति मौखिक सहानुभूतिका प्रदर्शन करना भी वह नही चूकता । एक स्थान पर वह कहता है -- "तुम लोग समझते हो कि सिंह हमारा नेता है -- हमारे लिए मंगलवाद ला रहा है । क्या सचमुच इस जंगलतंत्र में हम सभी समान हैं ? आखिर तुम लोग यह क्यों नहीं समझते कि यह सब कुछ नाटक है और नाटक के सिवा कुछ भी नहीं ? अगर हम सब समान है तो हमारे बच्चे साधारण स्कूलों में क्यों जाते हैं जबकि सिंह, मोर और नाग के बच्चे खास तरह के स्कूलों में जाते हैं ? अगर यह जंगल में रहनेवाले हम सब जीवों का राज्य है, तो राज-काज की भाषा हमारी अपनी भाषा क्यों नहीं है ? यहाँ के सारे कामकाज मोर भाषा में ही क्यों किये जाते हैं ? तुम लोग यह समझने की कोशिश ही नहीं करते कि हमारे साथ कितना बड़ा फरेब किया जा रहा है । सच्ची बात तो यह है कि हम पहले केवल सिंह के गुलाम थे, लेकिन अब हम सिंह, मोर और नाग तीनों के गुलाम है ।"[59]

इन बुद्धिजीवियों की क्रांति - धर्मिता कितनी छदमपूर्ण, तर्कटी और झूठी है; इसको गिलहरी के माध्यम से बेनकाब करते हुए लेखक ने कहा है -- "तु नाग और सिंह दोनों का दलाल है । तू रंग बदल-बदलकर दोनों से धन लेता है और मतदाताओं को बहकाता है । सच-सच बता, तू सिंह और नाग दोनों के लिए झूठे-झूठे प्रचार-पत्र लिख रहा है या नहीं ? मैं सब

जानती हूँ। सिंह ने तुझे लोभ दिया है कि अगर वह जीत गया तो वह तुझे विद्याधिपति बना देगा। नागने भी तुझ से कहा है कि अगर वह जीत गया, तो तुझे अपनी किसी कम्पनी का डायरेक्टर बना देगा।"[60]

"जंगलतंत्रम्" में रचनाकार के सहानुभूति चूहे (आम आदमी) के साथ है। जन-साधारण की क्षमता में उसे आस्था भी है, तभी तो मृत्युलोक में भेजते समय गणेश ने चूहे से कहा था -- "तू निर्बल नहीं। तू इन सबमें सबसे ज्यादा शक्तिशाली हैं। जिस दिन तुझे अपनी वास्तविक शक्ति का ज्ञान हो जायेगा, उस दिन ये सब लोग तेरे सामने घुटने टेक देंगे।"[61] किन्तु तुच्छ प्रलोभन, टुच्ची सुख-सुविधाएँ, झूठे आश्वासनों से उसकी संवेदना भोंथरी पड़ जाती है तब उपन्यास के अंत में शिवजी उसे (चूहे को) कहते हैं -- "तु अपनी शक्ति को पहचान, दूसरे की जयजयकार करना और किसी के पीछे-पीछे चलने की आदत छोड। एकबार तू उनके आगे चलने की कोशिश कर, जिनके पीछे तू अब तक चलता रहा है।"[62] और चूहा एक अपूर्व उत्साह और दृढ़ संकल्प के साथ लंबे डग भरता हुआ जंगल की ओर बढ़ गया।

रानी नागफनी की कहानी :

हरिशंकर परसाई व्यंग्य के प्रति एक समर्पित व्यक्तित्व है। "रानी नागफनी की कहानी" की चर्चा शायद इसीलिए नहीं हुई कि परसाईजी मूलत: व्यंग्यकार है। उनका व्यंग्यकार जनमानस पर इतना हावी हो गया कि इस लघु-व्यंग्य उपन्यास को भी लोगों ने व्यंग्य ही माना। इसमें परसाईजी ने "लव एट फर्स्ट साइट" की लकीर के फकीर आधुनिक प्रेमी युगलों पर चुटकी ली है जो प्रेम को भी महज एक फैशन के रूप में ग्रहण करते हैं।

परसाईजी की यह विशेषता है कि वे गंभीर से गंभीर बात भी सामान्य, हल्के - फुल्के ढंग से कह देते हैं । यहाँ डा॰ घनश्याम मधुप का यह मत उल्लेखनीय है -- "पाठक पहली बार उसे पढ़कर मुस्कुरा उठता है और थोड़ी देर बाद जैसे अन्दर ही अन्दर कचोट-सी अनुभव करता है । अपने अन्दर की यह कचोट उसे अपने चारों ओर से सतर्क करती है । उसे लगता है कि कहीं कोई मेरी ओर देख तो नहीं रहा है या कही लेखक ने मेरे बारे में तो ऐसा नहीं लिखा है । "रानी नागफनी की कहानी" पुरानी लोककथा शैली" एक था राजा" में लिखी गई है, किन्तु उसमें वर्तमान युगीन समस्याएँ विशुद्ध व्यंग के आधार पर प्रस्तुत की गई है ।"[63]

फैण्टसी में लोक-कल्पना का समुचित उपयोग होने के कारण वह लोकजीवन के विविध रंगों को उभारने में सहायक होती है । स्वयं परसाईजी इस सम्बन्ध में कहते हैं -- "लोक-कल्पना से दीर्घकालीन सम्पर्क और लोक-मानस से परंपरागत संगति के कारण "फेंटसी" की व्यंजना प्रभावकारी होती है ।"[64]

कुंअर अस्तभान और राजकुमारी नागफनी के आसपास कथा का ताना-बाना बुना गया है । उपन्यास के अन्य पात्रों के नाम भी व्यंग्यप्रधान है, अस्तु -- राजा निर्बलसिंह, जोगी प्रपंच गिरि, मुफ्तलाल, विद्यादमन और ज्ञान रिपु । उपन्यास के उपशीर्षक भी व्यंग्यात्मक हैं -- "फेल होना कुंअर अस्तभान का और करना प्रेम की तैयारी," "टूटना प्रेम राजकुमारी नागफनी का और करना तैयारी आत्महत्या की", "मिलना नागफनी और अस्तभान का और मचलना मन का", "जलना विरह

में और बहलाना मन तरह-तरह से", "होना बीमार और लगना पेनसिलिन", "भेजना प्रेमपत्र और खुलना भेद का", "इण्टरव्यू मुफ्तलाल का और होना डिप्टी कलेक्टर", "विवाह प्रस्ताव राजा निर्बलसिंह का", "आना जोगी प्रपंचगिरिका", "होना भेंट भैया साब से और लगना पता जीवका", "पकड़ना जीव को और देना मुख्य आमात्य को", "होना बातचीत शादी की", और होना शादी और रहना सुख से सबका" । किन्तु ऊपर - ऊपर से दिखनेवाली यह प्रेमकथा आधुनिक जीवन की अनेक विसंगतियों पर मीठी चुट की लेती है ।

इ म र ति या :

शिल्प एवं वस्तु-चेतना दोनों ही दृष्टियों से "इमरतिया" नागार्जुन का एक श्रेष्ठ व्यंग्यात्मक लघु उपन्यास है । पहले इसे मैथिलीमें लिखा गया, बादमें स्वयं लेखक ने ही उसे हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया । मठों एवं मन्दिरों में व्याप्त भ्रष्टाचार का संकेत तो कई उपन्यासों में मिलता है, "मैला आँचल" में इस पर काफी प्रकाश डाला गया है, किन्तु केवल इसी वस्तु पर लिखा गया यह हिन्दी का पहला उपन्यास है ।

डॉ· शिवकुमार मिश्रने ग्राम केन्द्रित उपन्यासों में यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य को समझाते हुए लिखा हैं -- "अपने यहाँ हो, अथवा पश्चिम में, उपन्यास का इतिहास मूलत: यथार्थवादी उपन्यासों का इतिहास अथवा उपन्यास में यथार्थवाद की केन्द्रीयता का इतिहास रहा है । एक दृष्टिकोण के रूप में, अथवा एक कला-शैली के रूप में, कहने का मतलब चिन्तन और चित्रण, वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति, दोनों स्तरों पर वह यथार्थवाद की केन्द्रीयता

ज्ञापित करनेवाला ही नहीं, उसकी सर्वोपरिता ज्ञापित करनेवाला इतिहास भी रहा है । xxx "यथार्थवाद की विजय" को हम कथा-साहित्य के क्षेत्र में उसकी पूरी गरिमा के साथ देख सकते हैं ।"[65]

अस्तु, चिंतन और चित्रण दोनों दृष्टियों से "इमरतिया" कला के नये आयामों को स्पर्श करता है । यह आत्मकथात्मक शैली का एक विशिष्ट उपन्यास है जिसमें प्रत्येक पात्र आ-आकर अपनी बात करता है । उपन्यास के मुख्य पात्र चार हैं -- इमरतिया अर्थात् माई इमरतीदास, जमनिया महन्ती दरबार का बाबा, साधू मस्तराम और जमींदार भगौतीप्रसाद । प्रथम तीन प्रकरणों में क्रमशः माई इमरती-दास, मस्तराम और बाबा तथा अंतिम तीन प्रकरणों में क्रमशः बाबा, मस्तराम और इमरतीदास अपनी - अपनी रामकहानी कहते हैं । दोनों के केन्द्र में है भगौती । इसमें आत्मविश्लेषण, आत्मसंभाषण, चेतना-प्रवाह, पूर्व दीक्षित, शब्द सहस्मृति, अखबारी रिपोटिंग, स्वपन विश्लेषण आदि विभिन्न शैलियों का कलात्मक विनियोग हुआ है ।

प्रारंभ से भगौती तक की कथा में जमनिया महन्ती दरबार का उद्भव एवं उत्कर्ष, उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार, गुण्डागर्दी, मेलों और भण्डारों का लगना, मस्तराम द्वारा भगत-भगतिनों को सोटी छुआना, बाबा तथा उसके गुर्गों द्वारा लक्ष्मी सधुआईन के बच्चे की बलि चढ़ाकर अपनी सिद्धई - वृद्धि का प्रयास करना, लक्ष्मी का पगला जाना, बादमें संदिग्ध स्थितियों में उसकी मृत्यु, पुलिस केस होने पर गौरी नामक सधुआइन को तीन-चार रात थाने भेज केस को रफे-दफे करा देना, स्वामी अभयानन्द नामक शिक्षित साधुका मठमें आना, महन्ती दरबार की जय न बोलने के कारण उसकी पिटाई, इस सिलसिलेमें बाबा, मस्तराम तथा माई इमरती दास का पुलिस

द्वारा पकड़ा जाना, इमरतीदासका जमानत पर छूटना, जेलमें भी अधिकारियों तथा अन्य केदियों में बाबाके प्रभावको बढ़ना और उनके द्वारा भंग-चरस, खान-पान आदिकी विशिष्ट सुविधाएँ मिलना, परन्तु धीरे-धीरे उस प्रभाव का घटना, साथियों का खिसकते जाना, बाबा के राजसी ठाट बाट में ओट, बाबा तथा मस्तरामको सजा हो जाना जैसी अनेक व्यंग्यात्मक घटनाओं और स्थितियों का चित्रण यहाँ पात्रात्मक नाट्यप्रधान शिल्प के रूप में हुआ है ।

उपन्यासके अन्तमें माई इमरतीदास अपना प्रेम मस्तरामको समर्पित करते हुए सजा की अवधि समाप्त होने पर उसे हरद्वार में मिलनेका संकेत देती है । उपन्यास में हमारी समाज-व्यवस्था, धर्म"व्यवस्था, पूंजीवाद और धर्म का गठबन्धन जैसे कतिपय महत्वपूर्ण मुद्दों को खराद पर उतारते हुए हमारे मंदिरों-मठों में व्याप्त भ्रष्टाचार के घिनौने रूप का बड़ी कुशलतासे भण्डाफोड़ किया है ।

मु र दा घर :

व्यंग्य की सूक्ष्मता से परिचित पाठक मुरदाघर को एक बहुत बड़ा - एक सशक्त व्यंग्य मान सकते हैं । यह व्यंग्य है -- हमारी समाज-व्यवस्था पर, राज्यतंत्र पर, लोकतंत्र पर, हमारी सभ्यता और संस्कृति पर, हमारे सौन्दर्य-बोध पर, हमारे अस्तित्व पर । सर्वत्र सुष्ठु सुष्ठु देखनेवालों को यहाँ नाक-भौंह सिकोड़ने के लिए बहुत कुछ मिल जायेगा । एक बहुत-बड़ा वर्ग यह भी कह सकता है कि क्या ऐसे उपन्यास "बहू-बेटियों-बच्चों" के हाथों में रखा जा सकता है । तथाकथित शालीनता और सु-रूचि के पूजक

उसकी भाषा पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा सकते हैं, किन्तु हमारे इतने वर्षों की सभ्यता समाजके एक बहुत बड़े वर्ग को एक अदद सही भाषा भी न दे सकी, क्या यह अपने एक बहुत बड़ा व्यंग्य नहीं है ? अत: "कुरु कुरु स्वाहा" की भाँति यहाँ भी विवाद को पर्याप्त अवकाश रहेगा ।

डॉ• अजितकुमार इसे हिन्दी उपन्यासलेखन का श्रेष्ठ और परिपक्व लेखनका-एक उच्च शिखर मानते हैं । संभव है कदाचित कुछ पाठक "इसमें मौजूद माँ-बहन की तमाम गालियों के भी कारण - अशिष्टतापूर्ण समझ बैठें, गोकि उम्मीद है, वे इतने सुरुचि-संपन्न अवश्य हो चुके होंगे कि कम-से-कम "अश्लील" तो इसे नहीं ही कहेंगे । दरअसल सोच-विचार का विषय यह होना चाहिए कि निजी या सार्वजनिक जीवन के किसी पहलूका चित्रण लेखकने चटखारे ले-लेकर आँखमारू प्रदर्शन करते हुए किया है या समझ, सहानुभूति, संयम और कलात्मकता के साथ ? xxx यही वह बिन्दु है, जहाँ उग्र ऋषभचरण, विश्वेश्वर तथा कतिपय अन्य बाजारू लेखकों से ही नहीं, बल्कि पेरेलुई और जोला जैसे इस विषय के अधिकारी लेखकों से भी अलग होते हुए --- जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, एक तरह से कुप्रिन, गोर्की, बाल्जाफ़, प्रेमचन्द जैसे कथाकारोंकी पंक्ति में जा बैठते हैं ।"[66]

डॉ• पारूकान्त देसाई के शब्दों में प्रस्तुत उपन्यास में "नियोन लाइट से जगमग सफेद इमारतोंवाली सफेदपोश बस्ती के कॉन्ट्रास्ट में बम्बई की एक गन्दी घिनौनी, सडांध से भरी हुई झोंपडपट्टी की सच्ची यथार्थ तस्वीरको लेखक ने इस खूबी से उभारा है कि हमारे सभ्य समाज की परत-दर-परत खुलती गई है और वह अपने नग्न स्वरूप के साथ चेतना की संवेदनाशीलता के कठघरे में आकर उपस्थित हो जाता है । महानगरों की इमारतों के समान्तर फुटपाथों पर भी लाखों-करोडों मनुष्य बसते हैं, जो कुत्तों, कौओं और

रेंगते हुए कीडों से भी बदतर ज़िन्दगी बसर करते हैं और जिन्हें समाज की जूठन और गन्दगी के अतिरिक्त कुछ समझा नहीं जाता । उन लोगों की इच्छा-आकांक्षाओं, सपनों, आशाओं - निराशाओं, अच्छाइयों-बुराइयों को उनकी अभागी-अपाहिज जिन्दगी की अभिशाप्त नियति का, उनकी सडांध से भरी धूल और कीच में बरबस औंधी पड़ी, फूटपाथ पर एकदम सपाट गिरी-लेटी मजबूर ज़िन्दगीयों के आँसूरीते दर्द को ज्यों का त्यों उनके अपने परिवेश एवं शैली में चित्रित कर लेखक ने अपने दुस्साहस का परिचय दिया है ।"[67]

इसमें एक-एक, दो-दो, कभी-कभी चाय-ढर्रा के एक-एक कप में अपने शरीर का सौदा करनेवाली, ग्राहक के लिए एक-दूसरे पर झपटने और गाली-गलौज करनेवाली, पर फिर दूसरे ही क्षण एक-दूसरे के सुख-दु:ख में साथ देनेवाली मैना, पार्वती, लैला, मरियम, बशीरन, नूरन, हीरा, जमिला जैसी वेश्याएँ; शारीरिक श्रम से कतराने वाले और दो नम्बरी व्यवसाय से रातोंरात हाजी सेठ की तरह धनवान होने के स्वपनों में राचनेवाले पोपट जैसे जुआरी, शराबी, मवाली पति है; इसमें रहते हैं किस्तय्या जैसे शराबवाले - मटकेवाले जो पुलिस को किस्ते देकर खून का पसीना करनेवाले मजदूरोंकी कमाई पर पलते है; इसमें लक्ष्मी जैसे हिजड़े भी हैं जो वस्तुत: हिजड़े न होकर कुछ न कर सकने की विवशता में इस व्यवसाय को अपनाते है; इसमें शरणागत असहाय वेश्याओं को पनाह देनेवाले मर्द-हिजड़े ﴾ १ ﴿ भी हैं तथा वेश्याओं को भीतर से चाहते हुए बाहर से दुत्कारने वाले सभ्य समाज के पुरूष - हिजड़े भी है; इसमें गन्या, राजू, गोपू, मुहम्मद जैसे होटल के उच्छिष्ट कचरे में रोटी, पाऊं या हड्डी के टुकडे ढूँढनेवाले

भिनभिनाती मक्खियों जैसे बच्चे हैं जो पेट की दुहरी आग की लपट में कोढ़ियों और भिखारियों की पंक्तिमें आकर खड़े हो गये हैं; इसमें नोटों के बण्डल अधिकारियों को देकर असहाय गुमराह लड़कियों को होम से निकालकर बाज़ार में बिठानेवाले भाई हैं; वेश्याओं की तरह असीलों को ललचायी नज़र से देखने और उनके पीछे भागनेवाले वकील हैं और, और भी बहुत कुछ हैं।

वस्तुत: मुरदाघर वह स्थान नहीं, जहाँ मुर्दे रखे जाते हैं, वरन् यह गन्दी घिनौनी घृणित बस्तियाँ और एक बहुत बड़े आयाम पर देखने से "शिवपाल गंज", "करैता", "गंगौली", "सरोहा", जैसे गाँव जहाँ चलती सरकती-रेंगती लाशें मिलती हैं, मुरदाघर हैं। परन्तु यह "मुरदाघर" केवल इन जीवित मुरदा पात्रों से ही अटा पड़ा नहीं है, प्रत्युत इसमें लेखक ने स्थापित व्यवस्था की विसंगतियों एवं अंतर्विरोधों के झंझावात में मानवता के झिलमिलाते दीयों के अस्तित्व-संघर्ष एवं मानवीय जिजीविषा के द्वन्द्व को एक मानवीय संवेदनशील दृष्टि एवं दर्द के साथ उभारा है। इसके अभाव में प्रस्तुत कृति एक सामान्य उपन्यास बनकर रह जाती। अनेक मार्मिक स्थलों पर लेखकने अपनी प्रतिमा की उँगली रख दी है।"[68]

मैना के साथ हमेशा झगड़ते रहने पर भी पोपट की मृत्यु पर बशीरन का धंधेको छोड़कर उसके साथ जाना; स्वयं मैना का पोपट - जो उसके इस गर्हित जधन्य जीवन के लिए जिम्मेदार है और पति नहीं केवल पति का तर्क-भर है - के लिए रोना - बिलखना; प्रेम द्वारा प्रवंचित काठियावाड़ से भागी हुई लड़की के प्रति मैना का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार; आसन्न-प्रसवा मरियम के लिए जमिल का ग्राहक छोडकर उसके पास बैठना; मरियम को बच्चा होने

पर सब वेश्याओं द्वारा उसे खिलाना; तड़ीपार होते हुए भी पुलिस के डर को भुलाकर जब्बार की अपनी पत्नी हसीना और पुत्र अमज़द के लिए, उनके उज्जवल भविष्य के लिए आखिरी बार चोरी करना तथा मरणासन्न पिटाई के बावजूद अपराध को अस्वीकृत करते जाना; रोज़ी का जब्बार के लिए जीवन में पहली बार भीख माँगना; यह और ऐसी अनेकों घटनाएँ उपन्यासकारको कुप्रिन, गोर्की, प्रेमचन्द्र की परम्परामें प्रतिष्ठित करती है । यहाँ डॉ॰ शिवकुमार मिश्र का यह कथन उल्लेखनीय रहेगा -- "यथार्थवादी साहित्य मनुष्यको निराशावादी और नियतिवादी भी नहीं बनाता । मनुष्य को उसके परिवेश से पूर्णत: परिचित कराता हुआ, वह उसे विरूपता के प्रति सजग करता है, ताकि वह उसके उन्मूलन के लिए सन्नध्य हो सके । "समाजवादी यथार्थ" का समूचा कृतित्व मनुष्य की उदात्त जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था का प्रमाण है । जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है, यह सबको मनुष्यता की थाती समझता है और मनुष्य को उसकी उपलब्धि करने को प्रेरित करता है ।"[69] "मुरदाघर" के लेखक ने जीवन के इस कीचड़ में भी मानवीय भावसौनदर्य को परखा है ऐसा हम असंदिग्धभाव से कह सकते हैं ।

धरती धन न अपना :

"जल टूटता हुआ", "अलग-अलग वैतरणी", "सूखता हुआ तालाब" प्रभृति उपन्यासों में शताब्दियों से प्रताडित दीन-हीन परावलम्बित हरिजन-भंगी-चमार-समाज के कतिपय पहलुओं को उजागर किया गया है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में लेखक श्री जगदीशचन्द्र का संपूर्ण ध्यान केवल उनकी ही

समस्याओं को उपन्यस्त करने में लगा हुआ है । हरिजन और केवल हरिजनकी समस्या को लेकर लिखा गया यह हिन्दी का प्रथम उपन्यास है ।

उपन्यास का केन्द्र है, पंजाब का एक छोटा-सा गाँव "घोडेवाहा" । गाँव में जमींदारों और हरिजनों तथा कुछ निम्न जाति के लोगों की बस्ती है - अर्थात् शोषक और शोषित, शासक और शासित । "उपनयास के बृहद फलक पर उनकी आशा - आकांक्षाएं, उनके आचार-विचार, उनकी आस्थाएं-परम्पराएं सतत गरीबी से निष्पन्न स्वार्थान्धता एवं आपसी फूट इस प्रकार प्रतिबिम्बित हुए हैं कि ग्रामीण जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रह जाता । काली, प्रतापी, ताई निहाली, बन्तो, शानो, प्रीतो, बाबा फत्तू, जीतू, मंगू, छज्जू शाह, घड्डम चौधरी, चौधरी हरनामसिंह, नंदसिंह, डॉ॰ बिशनदास, टहलसिंह, लालू पहलवान आदि पात्र पंजाब का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं ।"[70]

प्रस्तुत उपन्यास में हरिजनों पर होनेवाले अत्याचार, अपमान और उनकी आर्थिक विपन्नता की संतापत्रयी को गहरी संवेदना एवं यथार्थवादी समझदारी के साथ उकेरा गया है । यहाँ किसी भी व्यक्ति के पिटने के कारणों में उसका चमार होना ही पर्याप्त होता है । बात-बात में उन्हें माँ-बहिन की गाली दी जाती है । उपन्यास के प्रारंभ में ही चौधरी हरनामसिंह द्वारा सन्तू और जीतू की बुरी तरह से पिटाई होती है । स्वयं लेखक के शब्दों में -- "चमादड़ी में ऐसी घटना कोई नई बात नहीं थी । ऐसा अक्सर होता रहता था । जब किसी चौधरी की फसल चोरी

कट जाती या बरबाद हो जाती या चमार चौधरी के काम पर न जाता या फिर किसी चौधारी के अन्दर ज़मीनकी मल्कियत का अहसास जोर पकड़ लेता तो वह अपनी साख बनाने और चौधर मनवाने के लिए इस मुहल्ले में चला जाता ।"71

चमारों का आर्थिक और शारीरिक शोषण ही नहीं वरन् उनका नैतिक शोषण भी जारी है । उसमें मंगू जैसे उसकी ही जाति के लोग भी शामिल हैं । चमारों की बहन-बेटियों-बीवियों की कोई इज्ज़त नहीं होती । गाँव की बड़ी जाति के लोग उनका जैसा चाहे इस्तेमाल कर सकते हैं । विरोध करने पर उनकी भी वही स्थिति हो सकती है जो बिहार, गुजरात आदि के गाँवों में होती है ।[72] "महाभोज" के जोरावर जैसे लोग कहाँ नहीं होते ?

चमारों पर के इस अत्याचार और उनके अपमान का मूल कारण है उनकी आर्थिक विपन्नता, उनकी जमीनहीनता । "घोडेवाहा" के जमींदार और छज्जूशाह कालीका उतना अपमान नहीं कर सकते जितना वे मंगू, जीतू या सन्तू का करते हैं । काली शहर जाकर कुछ कमा लाया है । चाची प्रतापी के हाथमें दस का नोट देख कर छज्जूशाह भी उसके प्रति अहोभाव प्रकट करता है । जिस प्रकार "गोदान" का होरी अपने आँगन में एक गाय देखना चाहता है, उसी प्रकार काली की एक मात्र इच्छा है -- इटों और मिट्टी के गारे से बना पक्का मकान । मकान आधा-पौना बनता है, तब बाकी के रूपये चोरी चले जाते हैं और काली भी उन सबकी पंक्ति में आ बैठता है । छज्जूशाह ठीक ही कहता है कि चमार की खुशहाली भी उसकी जवानी की तरह चार दिन की ही रहती है ।[73]

वर्षा के दिनों में "चो" {नाला} में आए बाढ़ के पानी के कारण बाँध तोड़ना पड़ता है । बादमें उसे ठीक करने के लिए चमारों को लगाया जाता है, जिसके लिए वे मज़दूरी माँगते हैं । जमींदार मज़दूरी के लिए मना करते है । चमार काम पर नहीं जाते । इस पर सम्पूर्ण गाँव उनका बहिष्कार करता है । गाँव की नाकाबन्दी होती है । कुदरती हाजत तक के लिए खेतों में नहीं जाने दिया जाता । फलत: उनके हौंसले पस्त होते हैं और उन्हें समझौते के लिए विवश होना पड़ता है । काली और ज्ञानो की प्रेमकहानी प्रस्तुत उपन्यास की एक दूसरी त्रासदी है । उपन्यास में निम्न जाति के लोगों द्वारा हो रहे धर्म-परिवर्तन की समस्या को भी उठाया गया है । उपन्यास का एक मात्र चेतना - संपन्न चरित्र काली, अंतमें टूट जाता है, भाग जाता है, आत्महत्या कर लेता है या कोई उसे मार देता है, कुछ स्पष्ट नहीं है । यही महाभोज के "बीसू" के साथ हुआ था । यही जेतलपुर, झांझमेर और रणमलपुरा {गुजरात} में हुआ था ।

सूखता हुआ तालाब :

"पानी के प्राचीर" तथा "जल टूटता हुआ" में लेखक डॉ· रामदरश मिश्र ने ग्रामीण जीवन के नाना आयामों को विस्तृत फलक पर चित्रित किया है । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने ग्रामीण जीवन में बढ़ती जटिलता, वहाँ फैल रही राजनीति की गर्हित छाया तथा उसके सहारे पनपती यौन-लीलाओं का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया है । उपन्यास के प्रारंभ में दी गई दो कविताओं मे लेखकने झण्डा बरदारी, गुटबन्दी एवं नेताओं के हिज़ड़ेपन को व्यंजित किया है, इससे उपन्यास के व्यंग्यात्मक "टोन" को सहज ही परखा जा सकता है । लेखक के अन्य उपन्यासों की तुलनामें यहाँ व्यंग्यात्मकता बढ़े-चढ़े रूप में मिलता है ।

प्रारंभ में ही लेखकने गाँव के गन्दे सूख रहे तालाब का चित्र दिया है । यही तालाब पहले ग्रामीण - जीवनकी धड़कने से, मेले-ठेले और उत्सवों से उल्लसित रहता था । अब गाँव-भर की गन्दगी यहाँ संग्रहीत होती है । शामदेव-शिवलाल जैसे लोगों ने गाँव की इस सार्वजनिक संपत्ति को हथियाने के प्रयत्न भी शुरू कर दिये हैं । वस्तुतः यह तालाब ग्रामीण जीवन का प्रतीक है । पहले ग्रामीण जीवन में आनंद, उमंग, उल्लास और साफसफाई थी तब तालाब कासौन्दर्य भी उसी प्रकार था; अब ग्रामीण जीवन की छवि बिगड रही है, अतः तालाब भी गन्दा हो रहा है, सूख रहा है । इस प्रकार "सूखता हुआ तालाब" ग्राम्य-जीवन के जल के सूखने की दर्द-भरी कहानी है ।

उपन्यास की कुल कथा इतनी है -- देवप्रकाश अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के कारण "दूधों फलनेवाली" सरकारी नौकरी को लात मारकर गाँव आ जाते है । परन्तु यहाँ भी उनकी "दो-टूक" निर्भीकता उन्हें जमने नहीं देती, क्योंकि गाँव भी अब शिवलाल, शामदेव, मास्टर धर्मेन्द्र, बनारसी, कामरेड, मोतीलाल जैसे बदमाश और हिजड़ेनुमा नेताओं का अड्डा बन गया है । शंकर और जैराम जैसे नैतिक मूल्यों में विश्वास करनेवाले कुछ लोग हैं, किन्तु उनकी आवाज, नक्कारखाने में तूती के समान हैं । अनेक विरोधी परिमाणों को आमने-सामने उपस्थित करके लेखक मार्मिक व्यंग्य की सृष्टि करते हैं । लीला तथा कलावती जैसी ब्राहमण कन्याओं के आचरण के विपरीत चेनइया जैसी चमार कन्या का गर्भ न गिराकर समाज को चुनौती देने का साहस करना; एम॰ए॰ पढ़नेवाले बाबू पारसनाथका ओझा-सोखा आदिमें विश्वास व्यक्त करना; कामरेड मोतीलाल के यहाँ "मूर-पूजन" के उपलक्ष्य में भोजन-

-समारंभ; चमारिनों से सम्बन्ध रखनेवाले मास्टर धर्मेन्द्र का छूआ छूत सम्बन्धी दंभ; विष्णु-पुराण की कथा के उपरान्त फिल्मी-गीतों को भजन के रूप में गाना; भूत-प्रेत जैसी मान्यताओं का भी राजनीति में भी उपयोग करना; आटाचक्की की आवाज़ के साथ ही जलेस्सर के यहाँ से ओझा की डुगडुगी का आवाज़ का आना आदि इसके उदाहरण हैं ।

व्यंग्य-प्रधान उपन्यास :

अब हम उन उपन्यासों की चर्चा करेंगे जो आद्यन्त व्यंग्योन्मुखी तो नहीं हैं किन्तु जिनका मुख्य "टोन" व्यंग्यात्मक रहा है । डॉ॰ राही मासूमरजा के उपन्यास "आधा गाँव" की कथा एक साथ अनेक स्तरों पर चलती है । "गंगोली नामका यह गाँव शीया और सुन्नियों में, सैयदों और जुलाहों में, उत्तरपट्टी और दक्खिनपट्टी में और यदि आसपास के पुरवों को भी लें तो हिन्दुओं और मुसलमानों में, छूतों और अछूतों में और एक निश्चित सीमा तक जमींदारों और असामियों में बँटा हुआ है । पूरी कहानी इन्हीं में तनी-कसी है ।"[74] अत: गंगौली की यह कथा-व्यथा समूचे देशकी कथ व्यथा है, जो किसी भी लिहाज़ से पूरा नहीं, आधा है, अधूरा है और उसके इस अधूरेपन को लेखक ने व्यंग्य के साथ उभारा है । सारे चोंचले जमींदारी के थे । पहले सय्यदजादे निम्न जाति की स्त्रियों, बहुओं-बेटियों पर हाथ साफ करना अपना अधिकार समझते थे अब रहमत जुलाहा का लड़का बरकत, जो अलीगढ़ में पढ़ता है, सय्यदजादी कामिला से इश्क फरमाता है क्योंकि हुसैन अलीमियाँ के ही शब्दों में "जौन खूँटे पर अकड़ते रहे तौन खूँटवे कट गया ।"[75]

उपन्यास के आरंभ में ही विभाजन की काली छाया के मंडराते जाने का संकेत लेखक ने दिया है । यह विभाजन देशके नक्शे पर खींची गयी भारत - पाकिस्तान की विभाजन रेखा ही नहीं, बल्कि वह रेखा है जो पहले कागज़ पर, फिर जमीन पर और अन्तत: पूरे देश के जीवन पर खिंच गई और जिसने हिन्दुओंको अधिक हिन्दू और मुसलमानों को अधिक मुसलमान बना दिया । जिसने माँ-बाप से बेटे, बहनों से भाई, पत्नियों से पति ही नहीं अलग किए, बल्कि इन्सान को जमीन से तोड दिया, इन्सान को इन्सान से तोड़ दिया । यह तन्नू, सघन, मिग्गे, दिलशाद जैसे गुब्बारों की कथा है जिनकी डोर वतन के हाथों से खिसक गई है और जो एक दोगली जिन्दगी जीने के लिए विवश हैं ।

"आधा गाँव" में लेखक ने इस मर्मबिन्दु को तलाशा है, अत: लगभग तीन-चौथाई उपन्यास के बाद लेखकने एक छोटी-सी भूमिका दी है, वहाँ लेखक ने एक तीखे गहरे दर्द के साथ लिखा है -- "मैं, सय्यद मासूम रज़ा आब्दी, वल्दसय्यद बशीर आब्दी, बहुत परेशान हूँ । अक्सर सोचता हूँ किमैं कहाँ का रहनेवाला हूँ । .... मगर यह कहना ही पड़ता है कि मैं गाजीपूरका हूँ । गंगौली से मेरा अटूट सम्बन्ध है । वह एक गाँव ही नहीं है, वह मेरा घर भी है । "घर" यह शब्द दुनिया की हर बोली और भाषा में है और हर बोली और भाषा में यह उसका सबसे खूबसूरत शब्द है । इसलिए मैं इस बात को फिर दोहराता हूँ । मैं गंगौली का हूँ क्योंकि वह केवल एक गाँव ही नहीं है । "क्योंकि" वह मेरा घर भी है । कोई तलवार इतनी तेज़ नही होती कि वह इस "क्योंकि" को

काट दे । और जब तक यह क्योंकि जिन्दा है मैं सय्यद मासू रजा आब्दी गाजीपूर का ही रहूँगा, चाहे मेरे दादा कहीं के रहे हैं ।"[76] फुन्ननमियाँ और छिकुरिया की मृत्यु का प्रसंग भी बड़ा मार्मिक है -- "मर गए फुन्नमियाँ । छिकुरिया भी मर गया । दोनों के खून मिल गए, मगर कोई तीसरा रंग पैदा नहीं हुआ, क्योंकि दोनों के खून का रंग एक ही था ।"[77]

"टोपी शुक्ला" रज़ा का हिन्दु-मुस्लिम सम्बन्धों को उसकी पूरी सच्चाई के साथ रखनेवाला एक व्यंग्यप्रधान शैली में लिखा गया उपन्यास है । टोपी शुक्ला ऐसे हिन्दुस्तानी नागरिक का प्रतीक है जो अपने को विशुद्ध भारतीय समझता है । ऐसे स्वजनों से उसे धृणा है जो वेश्यावृत्ति करते हुए ब्राहमणपना बचाकर रखते हैं, पर स्वयं उससे इसलिए धृणा करते हैं कि वह मुस्लिम मित्रोंका समर्थक और हामी है । अन्तमें टोपी शुक्ला ऐसे ही लोगों से समझोता नहीं कर सकने के कारण आत्महत्या कर लेता है । इसकी भूमिकामें लेखकने लिखा है -- "हम लोग कहीं - न -कहीं किसी-न-किसी अवसर पर "कम्प्रामाइज़" कर लेते हैं । और इसलिए हमलोग जी रहे हैं । टोपी कोई देवता या पैग़म्बर नहीं था । किन्तु उसने "कम्प्रामाइज" नहीं किया । और इसीलिए आत्म-हत्या कर ली । ...... "आधा गाँव" में बेशुमार गालियाँ थी । मौलाना "टोपी शुक्ला" में एक भी गाली नहीं है । -- परन्तु शायद यह पूरा उपन्यास एक गन्दी गाली है । और मैं यह गाली डंके की चोट बक रहा हूँ ।"[78]

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद टूटते हुए गाँव और मूल्यों की कथा-व्यथा है "अलग अलग वैतरणी" । प्रारंभ के लेखकीय वक्तव्य में कहा गया है -- "कहा जाता है कि सती-वियोग से व्याकुल शिव के आँसुओं की धारा वैतरणी में बदल गई । इस पुराण-कथा का प्रतीकार्थ जो हो, मुझे इसे पढ़ते हमेशा ही

विक्षिप्त, बहिष्कृत, संत्रस्त और भीड़ के संगठित अन्याय के विरुद्ध जूझते शिव की याद आ जाती हैं । जब शिवत्व तिरस्कृत होता है, व्यक्ति के हक छीने जाते हैं, सत्य और न्याय अवहेलित होते हैं, तब जन-जन के आँसुओं की धारा वैतरणी में बदल जाती हैं । नर्क की नदी बन जाती है ।" और इस उपन्यास में लेखक ने "करैता" गाँव के माध्यम से स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के भारतीय जन-जीवनकी अनेकों वैतरणियों को तलाशने का प्रामाणिक प्रयत्न किया है । यहाँ भी सभी पात्रों की अपनी-अपनी अलग वैतरणियाँ हैं ।"[79]

रेणु द्वारा प्रणीत उपन्यास "जुलूस" पूर्व - बंगाल से आए शरणार्थियों को केन्द्र में रखकर लिखा गया है । रेणु की स्वप्नदर्शी कलम ने जहाँ एक ओर नोबिननगर की मुख्य संचालिका के रूप में पवित्रा को उभारा है, वहाँ गोढियार गाँव के तालेवर गोढ़ी के द्वारा गाँव के लोगों के विश्वास - अविश्वास, मंत्र, जादू-टोना आदि का भी बड़ा व्यंग्यात्मक चित्रण किया है । राजनीतिक एवं सामाजिक भ्रष्टाचार का घटस्फोट लेखक का मुख्य लक्ष्य रहा है ।

रामकुमार भ्रमर का उपन्यास "काँचघर", "तमाशा" की औरतों पर आधारित एक उपन्यास हैं, जिसमें "तमाशा" की औरतों और घरेलू औरतों को आमने-सामने रख तमाशा की औरतों के जीवन को "काँचघर" बताया है । जैसा है वैसा ही, न कोई बनावट और न कोई ढोंग । उपन्यास के अंतमें हमें संच (तमाशा) की कावेरीबाई और माला इज्ज़तदार समाज की सखूबाई से काफी ऊँची लगती है । इस प्रकार काँचघर में लेखकने एक तरफ काँचघर - संच की औरतों की नारकीय ज़िन्दगी तो दूसरी तरफ समाज के

खोखलेपन को बखूबी चित्रित किया है ।

प्रगतिशील दृष्टि - संपन्न भीष्मसाहनी द्वारा प्रणीत "तमस" साम्प्रदायिक दंगों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करनेवाला वह उपन्यास है जिसमें आज़ादी के ठीक पहले साम्प्रदायिकता का जो नंगा नाच हुआ उसके पाँच दिनों की कथा को लेखकने प्रस्तुत किया है । साम्प्रदायिक दंगे किस प्रकार बढ़ते हैं, उसमें गहमा-गहमी किस प्रकार आती है, अफवाहें किस प्रकार तूल पकड़ती जाती हैं, वातावरण किस प्रकार गहराते हुए भयंकर विभीषिका का रूप धारण करता है और अन्तमें वह कैसे दबाया जाता है इन सबका बड़ा ही सूक्ष्म एवं बेबाक चित्रण "तमस" में हुआ है । उपन्यास के प्रारंभ में मुरादअली नत्थु चमार को पाँच रुपये देकर डॉ• सलोतरी के लिए सूअर मार लाने को कहता है । इसका रहस्य पाँचवे परिच्छेद में खुलता है, जब हम पढ़ते हैं कि किसी काफ़िर ने सूअर को मारकर मस्जिद के सामने फेंक दिया है । दंगों में नत्थू को मरवा दिया जाता है क्योंकि उसके द्वारा कलई खुल जाने का डर है । दंगों के अंतमें यही मुरादअली ड्राइवर के पासवाली सीट पर बैठकर अमन कायम करने की अपील करता है । डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड को उसकी पत्नी लीज़ा जब कहती है कि इस फिसाद को क्यों दबाया नहीं जाता । तब हँसकर वह कहता है -- "क्या यह अच्छी बात होगी कि ये लोग मिलकर मेरे खिलाफ लड़ें, मेरा खून करें । ..... कैसा रहे अगर इस वक्त ये आवाजें मेरे घर के बाहर उठ रही हों, और ये लोग मेरा खून बहाने के लिए संगीने उठाएँ बाहर खड़े हों ।"[80] डॉ• प्रेमकुमार के शब्दों में "तमस" में उपन्यासकार साम्प्रदायिक - विष के मृत्युदायी रूपसे पाठक को परिचित कराकर उस आगाही करने की दिशा में प्रयत्नशील रहा

है । अपनी किसी बीमारी और उसकी भयंकरता को जान लेना शरीर की शक्ति व स्फूर्ति के लिए किसी नये टोनिक या व्यायाम से कम महत्वपूर्ण और आवश्यक नहीं है ।"81

कमलेश्वर द्वारा लिखित "डाक बंगला" उपन्यास आधुनिक समाज के व्यावसायिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में, शिक्षित स्त्रियों के इस्तेमाल को लेकर लिखा गया है । इरा आधुनिक काल की एक ऐसी नायिका है जिसके जीवन में चार पुरुष आते हैं -- विमल, बतरा, बूढ़ा डॉक्टर और मेजर सोलंकी । इरा की ज़िन्दगी बगैर मंजिलों के चलनेवाले चिर-पथिक की ज़िन्दगी है । वह कहती है -- "मेरा पड़ाव कही भी नहीं है । ...... रास्ते में कोई गन्दी चाय की दूकान आ गयी तो लोग वहाँ भी रूककर एक प्याला पी लेते हैं ।"82 उसकी ज़िन्दगी औरों के लिए एक पड़ाव - एक डाक बंगला - मात्र बनकर रह जाती है ।

"राग दरबारी" में श्रीलाल शुक्ल ने जहाँ ग्रामीण परिवेश को लिया है, वहाँ सीमाएं टूटता हैं " में महानगर दिल्ली के परिवेश को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है । उपन्यास की कथा अत्यंत क्षीण है, परन्तु उसके माध्यम से क्षिप्र गतिसे परिवर्तित जीवन-मूल्यों को उकेरने में लेखक सफल हुआ है । महानगर के संदर्भ में वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विसंगतियों को लक्ष्य करते हुए लेखकने अनेक प्रसंगों में व्यंग्य को उभारा है ।

राजनीतिक वादों एवं नारों से ऊपर भारतीय परिवेश में स्वयमेव उगी तथा पनपी प्रगतिशीलता का नया स्वर हमें उग्रतारा में सुनाई पडता है । डॉ॰ शिवकुमार मिश्र के मतानुसार "मार्क्सवाद सर्वहारावर्ग अर्थात् शोषितवर्गका क्रांतिकारी दर्शन है, अतएव उसकी सम्पूर्ण एवं एक मात्र प्रतिबद्धता इस सर्व हारा

वर्ग और उसके हितों के प्रति हैं।"[83] रूढ़िवादिता एवं पुराने परंपरागत मूल्यों में भारतीय समाज के अंतर्गत विधवा नारी का भयंकर नैतिक शोषण होता था। "उग्रतारा" में लेखक ने शोषण के इस कोणको विशेषतया ध्यानमें रखा है। विधवा के अस्तित्व के पीछे पुराने लोगों की रुचि के कारणों का भी लेखकने विश्लेषण किया है और अत: कामेश्वर जब उग्रतारा (उगना) नामक विधवा से शादी करने के लिए तत्पर हो जाता है तब सारी परम्परावादी मशीनरी उसके पीछे लग जाती है। पुलिस भी इस गति-रोध में स्थापित हितों का पक्ष लेती है। गाँववालों की झूठी रिपोर्ट के आधार पर कामेश्वर को नौ महीने की सज़ा हो जाती है। इस बीचमें पुलिस तथा मढ़िया-सुन्दरपट के नर-राक्षस उगना के देह पर अनेक अत्याचार करते हैं और आत्महत्या के विकल्प स्वरूप उसे भभीखनसिंह जैसे बुढ़ापे की देहलीज पर पहुँचे पुलिस के सिपाही से विवाह करना पड़ता है जिसका बड़ा व्यंग्यात्मक चित्रण लेखक ने किया है -- "भभीखनसिंह ने वैदिक विधियों से शादी की थी। ठीक है, आधे घण्टे तक अग्नि में आहुतियाँ डाली गईं थी। ठीक है, हवन के धुँएने बहुतों की आँखों को आनन्द के आँसुओं से गीला कर दिया था। ठीक है, तोलाभर सिन्दूर माँग के बीचोंबीच कई दिनों तक जमा रहा। सब कुछ ठीक है। लेकिन स्त्री-पुरुष के बीच इतना बड़ा फासला किस तरह मखौल उड़ा रहा था विवाह के संस्कारों का। बाबू भभीखनसिंह को कानूनी तौर पर बलात्कार का हक हासिल हुआ।"[84] परंतु कामेश्वर का चरित्र काफी दृढ़ है। पराये गर्भ को ढोनेवाली अपनी प्रेमिकाको न केवल भभीखनसिंह के बंधनों से निकाल लाता है, उसे स्वीकार भी लेता है। "सीताहरण की कथा को हम यहाँ नये सन्दर्भों में देखते हैं। समाज के ठेकेदार

तथा पुलिस रूपी रावण द्वारा अपहृत सीता को यहाँ रामके कन्धों का सुदृढ़ आधार मिला है ।"85

स्वाधीनता-संग्राम आंदोलन की पृष्ठभूमि में मन्मथनाथ गुप्त द्वारा लिखित उपन्यास "शहीद और शोहदे" में आंदोलन के एक नये पहलू को उजागर किया गया है । यह पहलू है -- आंदोलन में आई॰सी॰एस॰ अफसरों की सरकार परस्ती । जगदीशप्रसाद, देवीचरण, शंकरदयाल, नागेश, बुद्धिप्रकाश जैसे आफिसर अपनी अंग्रेज-परस्ती के प्रदर्शन में जधन्यसे जधन्य कार्य के लिए तत्पर रहते हैं । ये आफिसर उनके सहकर्मी अंग्रेज आफिसरों के आगे तो दुम हिलाते थे, पर गांधी-पटेल-नेहरू को गाली देते थे । प्रस्तुत उपन्यास में इन काले अंग्रेजों के काले कारनामों को खोला गया है ।

उपेन्द्रनाथ अश्क के "शहर में घूमता आईना" में "गिरती दीवारें" के चेतनको स्मृतिरूप में पकड़ने का प्रयास है । वस्तुत: चेतन ही वह आईना है जिसमें पंजाब के एक शहर जालंधर का प्रतिबिंब दिखाया है । इसमें लेखक ने मध्यवर्गीय जीवन के विकृत एवं घिनौने रूप को लिया है । डॉ॰ मक्खनलाल शर्मा के शब्दों में, "जिस समाज का यहाँ चित्रण है, वह यौन मुक्खड़ों, दम्भियों, बौनों, कायरों, मिथ्याभिमानियों, पलायनवादियों, शोषकों, अनुत्तरदायियों, जनखों, पागलों, दिमागी ऐयाशों, धोखेबाजों, जादूगरों तथा अवसरवादियों आदिका है । x x x यदि इसे समाज का एकांगी चित्र कहें तो आशा है, अनुचित नह होगा ।"66

शमशेरसिंह नरूला द्वारा प्रणीत उपन्यास गाधीजी की हत्या के समय की परिस्थितियों पर आधारित एक राजनीतिक व्यंग्यात्मक उपन्यास है ।

इसमें शिवशंकर कोहली किस प्रकार ठगी के पैसे से शायर, कहानीकार और अन्तमें नेता बनकर रिफ्यूजी एसोसिएशन का प्रमुख बन जाता है; किस प्रकार काम-धन्धे और घर-बार वाले लोग रातोंरात बेकार और बेघर होकर तीस हजारी शरणार्थी केम्प में ठूंस दिए जाते हैं; किस प्रकार पुराने कांग्रेसी सालिगराम और उनकी पत्नी भगवतीदेवी अनाथों के नाम पर फंड इकट्ठा करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं; किस प्रकार हिन्दू महासभा के लोग शरणार्थियों को गांधी के विरुद्ध भड़काते हैं और कैसे उनके खिलाफ़ एक विषाक्त वातावरण तैयार किया जाता है, किस प्रकार यहाँ के कुछ मुसलमानों के घर और संपत्ति हथिया लिए जाते हैं, किस प्रकार "देशभगत" के मालिक आचार्य रामचन्द्र पहले पाकिस्तानकी वफादारी जाहिर करके बादमें कनाट प्लेस में अपना दफ्तर खोल लेते हैं; किस प्रकार प्रारंभ का प्रामाणिक व निष्ठावान चाननमल "देश भगत" का पत्रकार सी•एम• चोपड़ा बनकर एक मक्कार, फरेबी और दोगला आदमी हो जाता है । ऐसी तो अनेक घटनाएँ इसमें वर्णित हैं ।

साठोत्तरी उपन्यासकारों में एक सशक्त हस्ताक्षर ऐसे रमेश बक्षी के उपन्यास प्राय: नगरीय परिवेश को लेकर हैं । उनके उपन्यास "बेसाखियोंवाली इमारतें" के सम्बन्ध में डॉ• धनराज मानधाने का मत उल्लेखनीय है -- "यह उपन्यास लंगड़े सम्बन्ध, घिनौनी प्रेम और आत्मभोगी चिंतन के गाल पर भरी सड़क पर एक तमाचा है । एक बदतमीज पत्रकार, एक नालायक पत्नी एक चरित्रहीन प्रशंसिका और एक बैगरैत प्रेमिका के चार स्तंभों पर इमारतकी कैंचिया ऊपर उठी है ।"[87] ये सब अहं की बैसाखियों पर खड़े हैं । उनका जीवन धुरीहीन है । वस्तुत: यह उपन्यास आज के तथाकथित "मोडर्न" एवं "एडवान्स" समाज पर एक करारा व्यंग्य है ।

बक्षीजी के दूसरे उपन्यास "अठारह सूरज के पौधे" में आधुनिक जीवन की यान्त्रिकता से उत्पन्न निरर्थकता एवं खालीपन को रूपायित किया गया है । इसीको "27 डाउन" भी कहा गया जिस पर एक हिन्दी फिल्म बन चुकी है । महाभारत का युद्ध अठारह दिन चला था । अनेक यंत्रणाओं में घिरा हमारा आधुनिक जीवन भी किसी "कुरुक्षेत्र" से कम नहीं है । उपन्यास के नायक के मनमें अनेक स्वप्न तैरते थे, किन्तु एक दुर्घटना में उसके अण्णा (पिता) की टांगे कट गई । पिता की कटी हुई टांगो ने मानो उसके हाथ काट डाले । उसके स्वप्न-सरगम के सुर रेलवे की "छक् छक्" में खो गए, जिसमें भूत-भविष्य-वर्तमान एक जैसे हैं, "गिव, गेव, गिवन" नहीं, पर "पुट - पुट - पुट" जैसा ।[88]

भीमसेन त्यागी का उपन्यास "नंगा शहर" एक भयंकर दुस्वपन-दिवा स्वप्न से युक्त फैण्टसी उपन्यास है । आज के मूल्य-मान, वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकी की प्रगति, वस्तुवादी चेतना, स्वार्थ एवं अहं की केन्द्रीयता के आधार पर लेखकने सन् 2000 की कल्पना की है । इससे काफी पहले एडल्स हक्सले ने "ब्रेव न्यू वर्ल्ड" और जार्ज आरवेलने "1984" में ऐसे प्रयोग किए हैं । यह कल्पना आशंका प्रेरित होती है, अत: दु:खद और भयप्रद है । हम आखिर किधर जा रहे हैं ? तीसरे विश्वयुद्ध के कगार पर खड़ा यह जगत -- और उसके आणविक परीक्षण, शस्त्रास्त्र की स्पर्द्धाएँ -- कहाँ अटकेगा ? मौत के ये सौदागर उसे कहाँ ले जायेंगे ? क्या यह भावी युग अमरिकामय होगा ? बासि, रोकी, चेंजीन, फ्यूचरोलोजिस्ट आदि शब्दों का प्रयोग आखिर क्या बताता है ? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे मस्तिष्क में कौंध जाते हैं ।

संवेदनशील कवि-कथाकार मणि मधुकर के उपन्यास "पत्तों की बिरादरी" की कथा-यात्रा देश के विभाजन के साथ-साथ एक ही परिवेश में पले और संस्कृति में ढले इन्सानों के बँट जाने और इन्सानियत के मिट जाने की प्रक्रिया से शुरु होती है । संसार में कितने ही ऐसे लोग हैं जो एक गैरमुल्की जिन्दगी जीने के अपमान भरे अहसास के साथ स्वयं को ढो रहे हैं । "पत्तो की बिरादरी" का जन्म इसी तीखे अहसास से हुआ है । एक अकाल-पीड़ित सहायता-शिविरमें रोज़ी रोटी कमाते, उजड़ते बसते लोगोंका हुजूम और उस हुजूम के बहते पसीने पर दिन-रात फूलते-फैलते चन्द अवसरवादी लोग । गरीबों के शोषण - उत्पीड़न का अनवरत और पेचीदा सिलसिला -- जिसमें सरकारी अधिकारी हैं, राजनेता हैं, तथा कथित एक समाजसेविका "बाई" है, सेठ साहूकार हैं -- आद्यन्त मिलता है । यहाँ लेखकने श्रम के शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था पर व्यंग्य किए हैं । "मानवीय, संवेदनापूर्ण और मूल्यों के अभाव की बेचैनी को व्यक्त करनेवाला व्यंग्य सचमुच ही अपना अधिक गहरा और मर्मस्पर्शी प्रभाव छोड़ता है । इसके लिए "टूटते बिखरते लोग" (योगेशकुमार) उपन्यास का एक उदाहरण पर्याप्त होगा, जिसमें मिस्टर निकलसन जैसे धाकड़ व्यवसायी के चरित्र के चातुर्य को व्यक्त करने के साथ-साथ अमरीकी ज़िन्दगी में विज्ञापनबाज़ी के महत्व को उजागर करते हुए उनका समग्र कूट कौशल बड़ी आसान, मगर सबकुछ कहनेवाली भाषा में किया गया है ।"[89]

"मैं इस अवसर पर यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आजकल की दुनिया न तो मज़दूरों की दुनिया है और न मालिकों की -- यह दुनिया तो केवल खरीदारों की मण्डी है । आज जब एक गर्भवती महिला किसी

बच्चे को जन्म देती है, तो वह केवल एक बच्चे को जन्म नहीं देती, असल में वह इस व्यापार की मण्डी में एक नया खरीदार पैदा करती है । हमारा यह फर्ज है कि इस नन्हे खरीदार के दिमाग में विज्ञापनों के माध्यम से कुछ ऐसे निशान छोड जाएँ जिन्हें वह अपने यौवनकाल में उपयोग में लाकर अपनी स्थितिको बेहतर बना सके । मेरे दोस्तों, आपको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि आपका बच्चा कल का खरीदार होता है ।"[90]

मिस्टर निकलसन के उक्त शब्द सुनकर मिया नामक एक महिला बड़ी तीक्ष्ण और व्यंग्यपूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त करती है -- "अगर कभी स्वयं इस आदमी को एक बच्चे को जन्म देना पड़ता, तो यह कभी भी बच्चे का इस तरह अपमान न करता ।"[91] मिया का यह व्यंग्य व्यावसायिक कौशल की भाषा के परखच्चे उड़ाने के साथ-साथ समूची विज्ञापनबाज़ व्यापारिकता पर प्रहार करता हुआ नारी के वात्सल्य और बालप्रेम को सम्मानित करता है ।

अशोक शुक्ला द्वारा लिखित "हडताल हरिकथा" में शिक्षा-संस्थानों में व्याप्त राजनीति की सडांध को लेखक ने बेपर्दा किया है । तथाकथित शिक्षित एवं संस्कारी कहे जानेवाले लोगोंकी भयंकर विद्रूप कुटिलता एवं आडंबरी आदर्शों के खोखलेपन को लेखक ने बखूबी उभारा है । उपन्यास के शीर्षक भी उसकी व्यंग्यात्मकता की ओर संकेत करते हैं, यथा-- अस्थाना - सस्पेन्शन खंड, कामरेड पटावन खंड, चुनाव चौदस खंड, प्रिंसिपल पिटन खंड, महामद्दयस्था खंड आदि आदि । लेखक स्वयं कॉलिज के अध्यापक हैं । अत: यह स्वानुभूत व्यंग्य अधिक यथार्थ बन पड़ा है ।

काशीनाथसिंह के "अपना मोर्चा" में युवा समस्या के सन्दर्भ में छात्र - आंदोलनोंके परिवेश को लिया गया है । इस परिवेश पर अमृतलाल नागर का एक उपन्यास "अमृत और विष" भी लिखा गया है । "अपना मोर्चा" में एक तरफ़ जहाँ भीतर - ही - भीतर सुलगने वाला विश्वविद्यालय है, वहाँ दूसरी तरफ ऐक ठण्डी फैशनपरस्त निश्क्रियता भी है जिसका तीखा अहसास कराते हुए डॉ॰ शेरजंग गर्ग ने लिखा है : "प्रगतिशील लेखन में जहाँ व्यंग्य आया है वहाँ युवा वर्ग की निष्क्रियता, बाप-दादों के माल पर पलने की मनोवृत्ति और अपने सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों से बेखबर होने पर भी कम कचोटभरे आक्रमण नहीं किए गए हैं । यही हाल उन युवतियों का भी हुआ है जो महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों की शिक्षा मात्र इसलिए ग्रहण करती हैं कि डिग्रियाँ प्राप्त करके उन्हें अपना घर बसाना होता है और जिनकी रूचि साहित्य में नहीं, हल्की-फुल्की फिल्मों में और फिल्मी नायक-नायिकाओं में होती है ।"[92]

समसामयिक जीवनका तीखा व्यंग्य रमेशचन्द्र शाह के उपन्यास "गोबर गणेश" में मिलता है । ऊँची शिक्षा, कल्याण-राज्य की उद्घोषणा और सारे आदर्शों के रहते हुए भी सामाजिक - आर्थिक प्रश्नों के धक्कों से होरी की भाँति ही उपन्यास का नायक विनायक टूट जाता है । डॉ॰ विवेकीराय के शब्दों में "इस देशका गरीब आदमी चाहे वह कितना प्रतिभाशाली क्यों न हो, उठ नहीं सकता । इस वर्ग के संस्कार, भाव , पारिवारिक परिवेश, सम्बन्ध और समग्र जीवन पर हीनत्व की वह सर्व ग्रासिनी अभिशाप्त छाया पड़ी रहती है कि उससे उबरना दुष्कर है । गरीबी को जीनेवाला चाहे

किसान हो, चाहे व्यवसायी, सब की नियति एक है । यहाँ उपन्यासकार ने वर्ग समस्या के नये आयामों को उद्घाटित किया है । "[93]

ओमप्रकाश दीपक के उपन्यास "कुछ जिन्दगियाँ बे मतलब" में यह प्रस्थापित हुआ है कि "न जाने कितनी जिन्दगियाँ बे मतलब उगती हैं और फसली कीड़ों की तरह बुझ भी जाती हैं । जिन्दगी मतलब हासिल करने की गरज से इधर-उधर हाथ-पाँव पटकती है, पर झूठे आधारों के टूटे जाने पर वह नीचे और नीचे गिरती जाती है । इस उपन्यास में धर्मदास की ऐसी ही जिन्दगी है । यह जिन्दगी वातानुकूलित भवनों और दफ्तरों की नहीं चौराहे पर खड़े सर्वहारा की भीड़ की कहानी है ।"[94]

छुटपुट व्यंग्यवाले उपन्यास :

प्रस्तुत प्रबन्ध में उपन्यासों की एक तीसरी कोटि वह निर्दिष्ट हुई है जिसमें व्यंग्य छुटपुट स्वरूप में मिलता है । प्रारंभिक काल से ही उपन्यासों में इस प्रकारका व्यंग्य तो मिलता ही है । प्रेमचन्द और प्रेमचन्द स्कूल के उपन्यासकारों में खूब व्यंग्य मिलता है । अपनी रोमानी प्रवृत्ति के कारण शिवानी की कथाकृतियाँ छायावादी चेतना के नवीन संस्करण-सी लगती है; तथापि कृष्णकली में हमारे साम्प्रतिक, सामाजिक-राजनीतिक जीवन की अनेकानेक विसंगतियों पर खूब व्यंग्य मिलते हैं । भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास "रेखा" में पूंजीवादी अभिजात वर्गकी यौन-जनित विसंगतियों को रेखांकित किया गया है । यशपाल कृत "मेरी तेरी उसकी बात कॉंग्रेस कल्चर पर स्थान-स्थान पर व्यंग्य करता है । लक्ष्मीकांत वर्मा कृत "टेराकोटा" उपन्यास आधुनिक महानगरीय जीवन की कटु विसंगतियों

पर गहरा व्यंग्य करता है । "अमृत और विष", "नाच्यौ बहुत गोपाल", (अमृतलाल नागर), एक टुकड़ा इतिहास (गोपालराय), पल्टूबाबू रोड (रेणु), कुमारिकाएं (कृष्णा अग्निहोत्री), अभिनंदन (नागार्जुन), पचपन खम्भेलाल दिवारें, रूकोगी नहीं राधिका ? (उषा प्रियवंदा), बेघर (ममता कालिया), नदी फिर बह चली (हिमांशु श्रीवास्तव), काला जल (शानी), प्रेम अपवित्र नदी (लक्ष्मीनारायणलाल), सफेद मेमने (मणिमधुकर), कड़ियाँ (भीष्म साहनी), तीसरा आदमी, आगामी अतीत (कमलेश्वर), अन्धेरे बन्द कमरे, अन्तराल (मोहन राकेश), वे दिन (निर्मल वर्मा), आपका बण्टी (मन्नू भण्डारी) प्रभृति उपन्यासों में हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक जीवन की विसंगतियों पर कई व्यंग्य किए गए हैं ।

निष्कर्ष

अध्याय के समग्रावलोकन द्वारा हम निम्नांकित कतिपय निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं :-

(1) यथार्थधर्मी विधा होने के कारण जीवन की विसंगतियों को उकेरनेवाले उपन्यासों के साथ व्यंग्य का सम्बन्ध प्रारंभ से ही रहा है । प्रेमचन्द-पूर्वकाल में बालकृष्ण भट्ट, मन्नन द्विवेदी, मेहता लज्जाराम शर्मा, पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी प्रभृति में प्रभूत मात्रा में व्यंग्य मिलता है ।

(2) अपने समग्र रूप में प्रेमचन्द के उपन्यास व्यंग्यात्मक मुद्रा लिए रहते हैं, परन्तु इसके उपरान्त भी प्रसंगानुसार अनेक व्यंग्योक्तियाँ प्रेमचन्द में मिलती है । प्रेमचन्द स्कूल के उपन्यासकारों में भी यह विशेषता

मिलती है । प्रेमचन्द्रोत्तरकाल में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है ।

§3§ साठोत्तरी उपन्यासों में कुछ उपन्यास तो सांगोपांग व्यंग्यात्मक है, जिनमें हम "राग दरबारी", "कथा सूर्य की नयी यात्रा","एक चूहे की मौत", "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई", "रानी नागफनी की कहानी", "जंगलतंत्रम्", "मुर्दाघर", "नेताजी कहिन", "कुरु कुरु स्वाहा", "इमरतिया" प्रभृति को ले सकते हैं ।

§4§ कुछ उपन्यासों में व्यंग्य एक मुख्य "टोन" के रूप में आया है । "आधा गाँव", "टोपी शुक्ला", "जुलूस", "कांचघर", "तमस", "उग्र तारा", "शहर में घूमता आईना", "नंगा शहर", "अठारह सूरज के पौधे", "गोबर गणेश", "अपना मोर्चा", "टूटते-बिखरते लोग", प्रभृति उपन्यासों को हम इसमें परिगणित कर सकते हैं ।

§5§ अन्य साठोत्तरी उपन्यासों में भी व्यंग्य छुटपुट परिमाण में मिलता है ।

सन्दर्भ

1 "हिन्दी साहित्यकोश भा.-1", पृ. 153।

2 "भारतीय साहित्यकोश" : पृ. 140 ।

3 'The Critical Idiom : Satire : p. 3 ।

4 "हिन्दी गद्य मिमांसा" :पृ. 65-66 ।

5 "भारतेन्दु युग" :पृ. 34 ।

6 "हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण" : पृ. 20 ।

7 "सेवासदन" :पृ. 5 ।

8 वही : पृ. 7 ।

9 वही : पृ. 177 ।

10 "गोदान" : पृ. 57 ।

11 वही : पृ. 23 ।

12 कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 486 ।

13 डॉ. पारूकान्त देसाई : प्रस्तावित "देसाई - सतसई" का एक दोहा ।

14 "हिन्दी उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियाँ : डॉ. विवेकीराय : पृ. 181 ।

15 'The Rise of Novel' : p. 13 ।

16 डॉ. शिवनाथ : आलोचना = 33, जून 1965 : पृ. 232 ।

17 "दष्टव्य : आधुनिक हिन्दी उपन्यास" : सं. भीष्म सहानी, पृ. 241-252 ।

18 "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : पृ. 86-87 ।

19 "आजका हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि" : पृ॰ 127 ।
20 "राग दरबारी" : 334 ।
21 "व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न" :डॉ शेरजंग गर्ग : पृ॰ 75 ।
22 "कथा सूर्य की नयी यात्रा" : पृ॰ 30 ।
23 उनके काव्य संग्रह "बिजली के फूल" में "मैं हिन्दी का प्राध्यापक हूँ" नामक लम्बी कविता में हिन्दी के प्राध्यापकों पर अच्छा व्यंग्य मिलता है ।
24 "कथा सूर्य की नयी यात्रा : पृ॰ 9 ।
25 "प्रकर" : मई-जून, 1972 : पृ॰ 53 ।
26 सबहिं नचावत राम गोसाईं : पृ॰ 7 ।
27 दृष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : तीन दशक : डॉ॰ राजेन्द्र प्रताप : पृ॰ 128 ।
28 "सबहिं नचावत राम गोसाईं" : पृ॰ 97 ।
29 किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई : आमुख ।
30 वही : आमुख ।
31 वही : आमुख ।
32 वही : पृ॰ 100 ।
33 वही : पृ॰ 100-101 ।
34 वही : पृ॰ 92
35 "दिल एक सादा काग़ज़" : पृ॰ 17 ।
36 वही : पृ॰ 17 ।
37 वही : पृ॰ 48 ।
38 वही : पृ॰ 48-49 ।
39 वही : पृ॰ 50 ।
40 वही : पृ॰ 51 ।
41 वही : पृ॰ 51 ।
42 "महाभोज" : भूमिका ।

43 "राजनीतिक बिडम्बनाएं और महाभोज": लेख दूर्वादल ‖साहित्यिक त्रैमासिक‖ : अंक-5 : मई-जुलाई : 1983:

44 महाभोज : पृ॰ 135 ।

45 वही : पृ॰ 139 ।

46 वही : पृ॰ 165 ।

47 मनोहरश्याम जोशी : आलोचना = 68 : पृ॰ 104 ।

48 वही : पृ॰ 106 ।

49 "कुरु कुरु स्वाहा" : प्रकाशकीय वक्तव्य से ।

50 "कुरु कुरु स्वाहा" : भूमिका से ।

51 वही : प्रकाशकीय वक्तव्य से ।

52 दष्टव्य : ‖1‖ "आई॰आई॰टी॰ दिल्ली के अंग्रेजी विभाग के सुरेश उपाध्याय "कुरु कुरु स्वाहा" और नेताजी कहिन" के प्रशंसक रहे है ।" : आलोचना : जनवरी-मार्च 84 : पृ॰ 105 । ‖2‖ बम्बई के अधिकांश फिल्मी जीवन के माध्यमसे आधुनिकता के नाम पर होनेवाली हर गंदगी, बेहूदगी, बकवास को इसमें दिखाया गया है ।" : डॉ॰ कृष्णचन्द गुप्त ÷ प्रकर अक्तूबर : पृ॰ 18 ।

53 "नेताजी" कहिन : पृ॰ 27 ।

54 वही : पृ॰ 55 ।

55 वही : पृ॰ 54 ।

56 वही : पृ॰ 164 ।

57 "जंगलतंत्रम्" पृ॰ 9 ।

58 वही : पृ॰ 24 ।

59 वही : पृ॰ 67-68 ।

60 वही : पृ॰ 68-69 ।

61 वही : पृ॰ 13 ।

62 वही : पृ॰ 125 ।

63 "हिन्दी लघु उपन्यास" :पृ॰ 206-207 ।

64 "रानी नागफनी की कहानी" : भूमिका से।
65 आलोचना-76 : जनवरी-मार्च, 1986 : पृ॰ 28 ।
66 "आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सं भीष्म साहनी : पृ॰ 465 ।
67 "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : पृ॰ 163-164 ।
68 वही : पृ॰ 165 ।
69 "यथार्थवाद : पृ॰ 153 ।
70 साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डॉ॰ पारूकान्त देसाई : पृ॰97-98 ।
71 "धरती धन न अपना" : पृ॰ 27 ।
72 बिहार के एक गाँव में, तथाकथित कुलीन राजपूतों ने हरिजन-कुमारियों से आत्म-समर्पण चाहा । उनके द्वारा तीरस्कृत होने पर उनकी झोपडियों में आग लगा दी । पुरुषों को जीवित जला दिया । स्त्रियोंका शीलभंग किया और उन्हीं की जलती हुई झोपडियों की आगमें तपाकर लोह - शलाकाओं से उन हरिजन स्त्रियों के गुप्तांगों पर उनकी जाति चिन्हित की । "आधुनिक हिन्दी उपन्यास": सं॰ भीष्म साहनी : पृ॰ 525 ।
73 "धरती धन न अपना": पृ॰ 229 ।
74 आलोचना : जुलाई-सितम्बर, 1967 : पृ॰ 143 ।
75 "आधा गाँव" : पृ॰ 351 ।
76 वही : पृ॰ 303 - 305 ।
77 वही : पृ॰ 360 ।
78 "टोपी शुक्ला" : भूमिका से ।
79 डॉ॰ शिवप्रसादसिंह : "अलग अलग वैतरणी" :तटचर्चा ।
80 "तमस" : पृ॰ 122 ।
81 "हिन्दी उपन्यास : अंतरंग पहचान" : पृ॰ 187 ।
82 "डाक बंगला" : पृ॰ 27 ।
83 "मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन" : पृ॰ 434 ।
84 "उग्र तारा" : पृ॰ 37 ।

85 डॉ॰ पारूकान्त देसाई : "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : पृ॰ 66 ।

86 आलोचना-35, जनवरी-1966 : पृ॰ 162 ।

87 हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास : पृ॰ 250 ।

88 "अठारह सूरज के पौधे" : पृ॰ 28 ।

89 डॉ॰ शेरजंग गर्ग : व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न : पृ॰ 32 ।

90 "टूटते बिखरते लोग" : पृ॰ 144 ।

91 वही : पृ॰ 141 ।

92 व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न : पृ॰ 87 ।

93 हिन्दी उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियाँ : पृ॰ 206 ।

94 डॉ॰ कुंवरपालसिंह : "हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना" : पृ॰ 205 ।

. . . . .